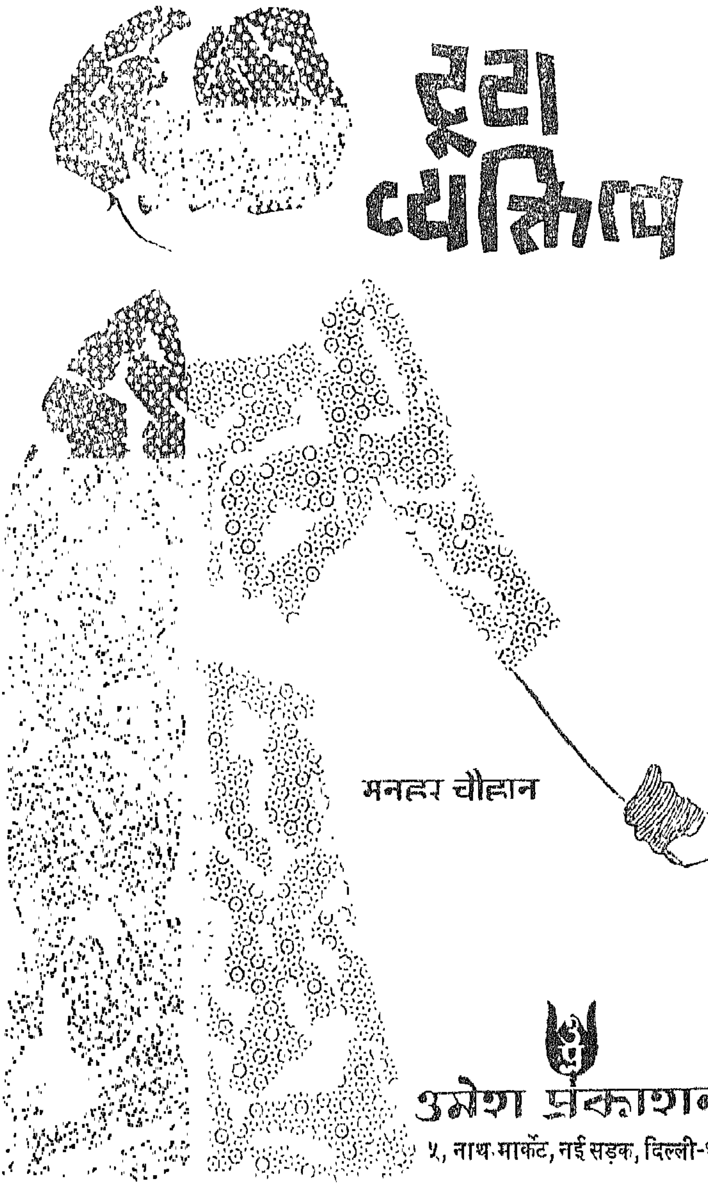
[illegible]

दो पीढ़ियों के संघर्ष की यह मार्मिक कहानी अपनी नई शैली और मधुरता से आपका मन मोह लेगी। उपन्यास की नायिका वसुधा से बस, एक बार परिचय हो जाए, आप उसे कभी न भूल सकेंगे।

जब यह उपन्यास 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में प्रकाशित हुआ था तो लाखों पाठकों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। बदलते समाज की यह सच्ची कहानी आपको कुछ सोचने पर मजबूर करेगी।

समाज इस समय तीन वर्गों में बंटा हुआ है। एक वर्ग प्रगतिशील विचारधारा का है। दूसरा वर्ग है ठीक इसकी उलटी विचारधारा का। नायिका के शब्दों में यह वर्ग 'दिमागी लेन-देन के लिए कतई तैयार नहीं है।' और तीसरा वर्ग है—'न इधर का न उधर का।' ईश्वरचन्द्र इसका प्रतिनिधि है।

इन तीनों वर्गों के उबाल और उलझाव की यह कहानी, टूटते लोगों और टूटकर सवरते लोगों की यह कहानी, आपके आस-पास की यह कहानी, आपकी अपनी यह कहानी इस उपन्यास में प्रस्तुत है।



टूटा व्यक्तित्व

मनहर चौहान

उमेश प्रकाशन
५, नाथ मार्केट, नई सड़क, दिल्ली-६

प्रकाशक ● उमेश प्रकाशन,
५, नाथ मार्केट, नई सड़क, दिल्ली-६

मुद्रक ● राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स,
२७ शिवाश्रम, क्वीन्स रोड, दिल्ली

संस्करण ● दिसम्बर, १९६१
(प्रथम संस्करण)

मूल्य ● दो रुपये पचास नए पैसे

संजोकर रखूँगा

पहले कहानी संग्रह 'मत छुओ'
के बाद मेरा पहला उपन्यास है।
क्योंकि पहला है, बड़ा प्यारा
लग रहा है। जरूरी नहीं कि
आपको भी लगे लेकिन
यह भी जरूरी नहीं कि न लगे।
उत्सुक हूँ, कैसा लगता है।
गुलाब और काँटे, जो भी आप
भेजेंगे संजोकर रखूँगा।

इसे
जिसे देना चाहता था
अब उसे दूंगा नहीं
इसलिए यह
किसी को नहीं

—लेखक

निशा
ने
कहा : मुझे क्या मालूम था, एक दिन भाभी बनकर आ जाओगी तुम और फिर मेरे जैसी निरीह लड़की से झगड़ भी पड़ोगी तुम। और झगड़कर भी तुम मेरी जीवनधारा ही बदल दोगी। हाँ, तुम !

झगड़ीं तुम, भले झगड़ी। झगड़े के बाद ही प्रेम होता है। हुआ भी। तुम न होतीं, निश्चय ही मैं आज इतनी सुखी न होती। जीवन भर मैं दावानल में झुलसा करती, झुलसा करती। शायद किसी और से मेरी शादी कर दी जाती—जबरदस्ती—और वह मेरा देव मुझे खोकर जाने क्या कर बैठता। परन्तु तुम थीं, झगड़कर भी, टूटकर भी मेरी मदद करने के लिए तुम थीं। और पा गई मैं अपने देव को।

जानती थी, अच्छी तरह जानती थी मैं, तुम मुझे चाहती नहीं थीं। चाहती होतीं, क्यों झगड़तीं ? लेकिन तुमने मुझे अपने साये में लिया। अपनी पूरी ताकत लगा दी मेरे लिए। इसके पीछे तुम्हारा स्नेह नहीं था, कुछ और था। हाँ, कुछ और—जिसके आगे तुम लाचार थीं। जिसने तुम्हें तोड़ दिया, चूर-चूर कर दिया, बिखेर दिया। तुम्हारी सारी शक्ति चूस ली जिसने। तुम अच्छी तरह जानती थीं, वह क्या है। और जानकर भी उसे नष्ट न कर सकीं तुम—उसके शिकंजे से छूट न सकीं तुम।

तुम झुकती गई, झुकती गई उसके सामने। मैंने तुम्हें उठाना चाहा। तुमने मेरी जीवनधारा बदली थी, मैं भी तुम्हारी जीवन-धारा बदलना चाहती थी। तुम सफल रहीं, मैं असफलता में ही उलझकर रह गई—तुम्हें बदल न सकी मैं। मैंने तुम्हें अपनी बाँहों में भरकर कहा, "उठो भाभी, उठो! देखो, भैया तुम्हारे कारण कितने परेशान हैं। उठो ना?" पर न उठीं तुम। शक्ति क्षीण हो चुकी थी तुम्हारी। मेरी शक्ति तुम में उतर न सकी। द्वार बन्द थे।

सरस्वती कालेज का पहला दिन मुझे खूब याद है। उसी दिन मैंने तुम्हें पहली बार देखा था।

उस दिन एक लड़की, जो मेरी दोस्त बनना चाहती थी, बात शुरू करने के लिए मेरे पास आई और बोली, "उसे पहचान लो।"

उसने तुम्हारी ओर इशारा किया था। मैंने ध्यान से देखा तुम्हें।

"लड़कों के कान काटती है। पिछले साल इन्टर आर्ट्स में फर्स्ट क्लास फर्स्ट आई थी। लेडीज़ क्लब की प्रेसीडेंट है।"

मैंने अपनी इस नई दोस्त की ओर देखा।

उसने आगे कहा, "बहुत अच्छी अभिनेत्री भी है। सालाना जलसे में अभिनय का पहला इनाम उसीने जीता था।"

"अच्छा?" कहा मैंने और फिर से तुम्हारी ओर देखा। तुम अपनी एक सहेली से बातें कर रही थीं। बातों के दौरान में तुम कभी किसी न्यायाधीश की तरह गम्भीर हो जातीं, कभी एक गर्वीला हास्य बिखेर देतीं।

"वह काफी आकर्षक भी है।" मैंने कहा।

"हाँ," लड़की कहती गई, "जानती हो, वह कवयित्री भी है।"

"कवयित्री ?"

"हाँ, अच्छे से अच्छे पत्रों में वह छपती है।"

"तब तो उससे दोस्ती करनी चाहिए।" मैं बोली।

"वह बहुत कम लड़कियों की दोस्त है। ज्यूनियर्स से तो बात ही नहीं करती।"

"मैं उससे दोस्ती कर लूँगी।" विश्वास से मैं हँसी।

कालेज में पहला दिन था। चारों ओर अपरिचित चेहरे ही थे। मैं असमंजस में पड़ी हुई थी, कौन मेरी दोस्त बनेगी, कौन नहीं। शायद दूसरी नई लड़कियाँ भी असमंजस में थीं। लगता था, अँधेरे कुएँ में उतरकर मुझे कुछ खोज निकालना है और अपने चारों ओर टटोल रही हूँ मैं। उपेक्षित सी एक बेंच पर मैं चुपचाप बैठी थी। मेरी नई दोस्त ने पूछा, "क्या सोच रही हो?"

"यही कि अम्मा ने मेरे कालेज ज्वाइन करने का कितना विरोध किया था।"

"मेरी अम्मा ने भी विरोध किया था। माँ अपनी सन्तान की जितनी फिक्र करती है, कोई नहीं करता।"

"हाँ," मैंने कहा, "और अपनी सन्तान की कमजोरियाँ भी वही अच्छी तरह जानती है।"

"ठीक कहती हो। तुम्हारा कौन सा डिवीजन आया ?"

"सेकिण्ड। तुम्हारा ?"

"थर्ड।" वह हँसी, "तीन डंडे पीठ पर पड़े तब कहीं मैट्रिक के दरवाजे से बाहर निकल पाई।"

मैं भी हँसी।

"तुम्हारा नाम ?"

"निशा। तुम्हारा ?"

"ऊषा।"

हम दोनों हँस पड़ीं। निशा और ऊषा।

मैंने कहा, "नाम की तुक बहुत अच्छी मिल गई।"

ऊषा बोली, "कालेज के लड़के बड़े बदमाश होते हैं।"

"क्यों ? क्या हो गया ?"

वह लाल हो गई थी। शायद उसे कोई छेड़ याद आ गई हो। बोली, "मेन गेट पर कमबख्त कैसे भीड़ लगाकर खड़े थे। मैं आई तो एकदम घबरा गई। कैसे आती भीतर ? रास्ता ही नहीं था। मुझे ठिठकते देख एक बदमाश सा लड़का आगे आया और बोला, 'अरे, अरे, रुक क्यों गई ? आइए आइए, अरे भई, इनको रास्ता दो। हटो भी।' उसने रास्ता किया और सकुचाती मैं भीतर आई। कैसे घूर रहे थे कुत्ते—जैसे खा जाएँगे।"

मैंने कहा, "मैं तो बड़े आराम से चली आई। जब मैं आई तो चपरासी ने लड़कों को गेट पर से हटा दिया था और प्रिंसिपल भी वहीं खड़े थे।"

"सुना है, हमारे प्रिंसिपल इस मामले में बड़े स्ट्रिक्ट हैं।"

"होना भी चाहिए। ये लड़के तो हमारा साँस लेना हराम कर दें।" मैंने कहा, "क्यों ऊषा, आगे पढ़कर तुम क्या करोगी ?"

"पता नहीं।"

"पता नहीं ?"

"हाँ, पता नहीं। अभी तो पढ़ती जाऊँगी। फिर शायद मेरी शादी हो जाएगी।"—और उसकी आँखों में सपने भर गए। उसने पूछा, "और तुम ?"

"शायद मैं भी शादी कर लूँगी। लेकिन शादी के बाद नौकरी भी करूँगी। जब हर क्षेत्र में स्त्री पुरुष के बराबर होना चाहती है तो उसे नौकरी भी करनी चाहिए। जाने कब क्या मुसीबत आ पड़े। पिताजी ने अम्मा के विरोध के बावजूद इसीलिए मुझे कालेज भेजा है।"

"क्या तुम लोग गरीब हो ?" ऊषा ने पूछा।

"नहीं," मैं जरा रुकी। मैं कभी अपने को अमीर बताना नहीं चाहती। जाने क्यों, सामने वाला व्यक्ति कुछ दब सा जाता है। मैंने इतने से ही निपटाया, "नहीं, हम लोग गरीब नहीं हैं।"

"फिर ?"

"कहा न मैंने, जाने कब क्या मुसीबत आ पड़े। हम गरीब भी हो सकते हैं।"

"ठीक कहती हो।"

मैंने उठते हुए कहा, "ऊषा, क्यों न हम दूसरी लड़कियों से जान-पहचान बढ़ाएँ ?"

"हाँ।"

हम दोनों उठीं। कुछ अपरिचित चेहरे फिजूल ही दोस्त लगते हैं। उनसे अपने आप बातचीत शुरू हो जाती है। थोड़ी देर में हम लोगों की भी एक टोली बन गई। हम सब खुश थीं, क्यों-

कि हम बातें कर रही थीं।

अभी तक मैं तुमसे बोली न थी। ऊषा का हाथ पकड़कर मैंने कहा, "चलो, उस होशियार लड़की से दोस्ती करें। क्या नाम है उसका ?"

"वसुधा।" मेरे साथ चलते हुए उसने कहा।

हम दोनों तुम्हारे पास आकर खड़ीं हो गईं। तुमने हमारी ओर देखा तक नहीं, अपनी सहेली से बातों में लगी रहीं। हमारी आँखों की उत्सुकता तुम्हारी सहेली ने पहचानी। उसने कहा, "तुम लोग कुछ कहना चाहती हो ?"

"हाँ," तुरंत मैं बोली, "हम लोग आपकी दोस्त बनना चाहती हैं।"

मैंने तुम्हारी ओर देखा। तुमने मेरी ओर देखा। दोनों की आँखों में उत्सुकता थी।

मैंने तुमसे कहा, "आपकी तारीफ मैं सुन चुकी हूँ। एक शब्द में, आप अद्भुत हैं।"

मैं शायद तुम्हें साहसी लगी होऊँगी। तुमने कुछ आश्चर्य से पूछा, "क्या नाम है तुम्हारा ?"

"निशा।"

"और तुम्हारी इस सहेली का ?"

"ऊषा।"

"मैट्रिक में कौन सा डिवीजन लिया तुमने ?"

मैं कुछ झेंपी, "सैकिंड।" मन में सोचा, 'सैकिंड ! और दोस्ती करने चली हूँ फर्स्ट क्लास फर्स्ट से।'

"चेहरे से तो होशियार लगती हो।" तुमने कहा।

"नहीं, मैं तो···मैं तो साधारण सी···"

तुम हँसीं, "अपनी तारीफ खुद कोई नहीं करना चाहता। मैं समझ नहीं पाती, क्यों। मैं तो अपनी विशेषताएँ खुद बताया करती हूँ। यदि तुममें योग्यता है तो कहने में शर्म या झिझक क्यों होनी चाहिए ?"

मैं प्रभावित हो गई। साहस के साथ कहा, "बीमार पड़ गई थी नहीं तो फर्स्ट क्लास आ गया होता। कुछ ही नम्बर से छूट गया।"

"याने होशियार हो।" तुमने कहा और फिर से मेरी ओर देखा। तुम्हारी दृष्टि, जाने क्यों, मुझसे सहन न हुई और मैं दूसरी ओर देखने लगी।

तुम्हारा गर्व तुम्हारे स्वर में था। जैसे तुम खास ऊँचाई से बातें करती थीं। ऊषा तो चुप ही बैठी रही। पहले तो मैं दबने सी लगी। फिर खुलकर बातें करने लगी और तुम भी कम ऊँचाई पर उतर आई, लेकिन ऊँचाई बनी जरूर रही। एकदम खुलकर तुम सामने न आई।

मैंने मन में सोचा, 'तुम्हें और नीचे उतरना होगा वसुधा, तुम न उतरोगी, मैं ऊपर उठ जाऊँगी।'

बहुत देर तक बातें हुईं। लड़कियाँ रह-रहकर तुम्हारी-मेरी ओर ताक रही थीं। उन्हें जैसे मेरे साहस पर आश्चर्य हो रहा था।

बातों-ही-बातों में हमने एक-दूसरी को नाप लिया। मैं तुम्हें कैसी लगी, नहीं जानती, पर तुम मेरी दृष्टि में अद्भुत थीं। मैं तुम्हारा मान करने लगी। तुम्हारे ज्ञान से मैं आतंकित भी हुई और गर्वित भी, क्योंकि अब तुम मेरी दोस्त थीं।

कुछ दिनों के बाद एक दिन तुमने अपने हाथ भावुकता से मेरे कन्धे पर रख दिए और पूछा, "तुम्हें मैं अपने घर ले जाना चाहती हूँ। कब चलोगी ?"

"जब कहो।"

"आज ?"

"क्यों नहीं।"

और शाम को जब कालेज छूटा, तुम मुझे अपने घर ले गईं। रिक्शे में हम बातें करती रहीं। आज तुम्हारी आवाज में बहुत आत्मीयता थी।

"कई मानताओं के बाद मैं पैदा हुई थी।" तुमने कहा, "इसी से मैं घर में लाड़ली हूँ। जो कहती हूँ, मान लिया जाता है। मेरा एक छोटा भाई है। उसने इसी साल मिडिल किया है। बड़ा सीधा, मेरे सामने तो गऊ ही बना रहता है।"

चुप सुनती रही मैं।

घर के सामने रिक्शा रुका। तुम मुझे भीतर ले गईं। स्टडी-रूम में मैं बैठी और आसपास देखने लगी। सुरुचि और सफाई टपकी पड़ती थी। हर चीज करीने से रखी हुई। दीवारों पर फीका नीला रंग। उससे मैच करते हुए खिड़कियों के सफेद पर्दे। अच्छा सा टेबुल लैंप। दीवारों पर कलात्मक चित्र। हर चीज साफ-सुथरी।

"क्यों ? पसन्द आया कमरा ?"

"हाँ, बहुत।"

"हमारी आर्थिक परिस्थितियाँ साधारण हैं, वरना एक रेडियो भी रखती। तुम्हें रेडियो का शौक है ?"

"शौक तो नहीं, पर घर में है तो कभी-कभी सुन लिया करती हूँ। वैसे रेडियो का चस्का लगने पर फर्स्ट क्लास फर्स्ट नहीं आया जा सकता।"

तुम हँस पड़ीं और बोलीं, "ठीक कहती हो, लेकिन जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मुझे चस्का नहीं लग सकता। मुझे अपने पर विश्वास है।"

मैं सामने की एक तस्वीर को देखती रही।

"चाय पियोगी?"

"नहीं।"

"दूध?"

"दूध?" आश्चर्य से मैं तुम्हारी ओर देखने लगी।

"मैं चाय से नफरत करती हूँ। चाय स्लो पायजन है। भूख को मार डालती है। घर में सबकी चाय की आदत मैंने छुड़ा दी है। मैं अपने मेहमान का स्वागत गर्म दूध से करती हूँ।"

मैं तुम्हें घूरती रह गई।

नाश्ता आया—बिस्कुट और सेव-दाल। नौकरानी जब पानी के गिलास रखकर बाहर जा रही थी तो तुमने कहा, "रज्जो, दूध लेकर अम्मा को भेजना। दो कप।"

मेरी औपचारिक आनाकानी, तुम्हारी मनौवल।

जब नाश्ता खत्म होने को आया, ट्रे में दूध के दो कप लेकर तुम्हारी अम्मा कमरे में आईं। सुघड़, सादी, सौम्य महिला। माथे पर बड़ा सा गोल टीका।

मैंने उठकर नमस्कार किया। उन्होंने मुसकराकर जवाब दिया। तुमने परिचय कराया, "ये मेरी माताजी। यह मेरी नई

सहेली निशा।"

"वसुधा पागल है या नहीं?" मुझसे उन्होंने पूछा, "जमाना चाय पीता है, यह सबको दूध पिलाती है।"

"दूध में ताकत होती है।" चुस्की लेते हुए मैंने कहा। हम तीनों हँस पड़े।

"मेरी अच्छी अम्मा मेरी हर बात मान लेती है।" अम्मा को बाँहों में भरते हुए तुमने कहा।

अपने को छुड़ाते हुए अम्मा हँसी और बोली, "मैं क्या, हर कोई इसकी बात मान लेता है। न माने तो यह आकाश सिर पर न उठा ले!"

मैं हँस दी।

अम्मा कहती गई, "इतनी जिद्दी है कि बात नहीं। सारी आदतें इसके पिता ने बिगाड़ी हैं..."

"अरे अरे अम्मा, तुम तो सब बताने लगीं..." तुम बोल उठीं। यह ऐसा विरोध था जो विरोध न था।

"बचपन से उन्होंने ही सिर पर चढ़ा रखा है। छोटी थी तो काम-धाम छोड़कर इसे कन्धे पर बिठाया और घुमाते रहते।"

"बड़ी भाग्यशालिनी हैं ये!" मैंने कहा।

"अरे बेटी," अम्मा ने कहा, "इसके नामकरण पर वह धूम मची थी कि मत पूछो। चचा कहते, मैं नाम दूँगा, फूफी कहती, मैं नाम दूँगी, हर कोई नाम सोचकर आया था।"

"वसुधा बहुत सुन्दर नाम है।" मैंने कहा, "वसुधा याने धरती, पृथ्वी। इसी पर तो सब जीवित हैं अम्मा!"

तुम लजा गई और मुझे बड़ी भली लगीं।

"आप लोग चुप न रहेंगे तो मैं उठकर चली जाऊँगी।"

"अच्छा, अच्छा, चुप रहते हैं।" अम्मा ने कहा।

और भी बहुत सी बातें हुईं।

मैं लौटी तो शाम गहरा गई थी।

फिर तुम मुझसे बहुत घनिष्ठ हो गईं। फर्स्ट ईयर की मैं ही एक स्टूडेंट थी, जो तुमसे इतनी मिली हुई थी।

मैंने माँग की, "अब तुम भी मेरे घर चलो।"

तुम हँस दीं, "चलूँगी कभी।"

यह 'कभी' प्रायः ही टाल दिया करतीं तुम। और इसके पहले कि मैं 'कभी' ला पाती, तुमने मेरी ओर से मुँह फेर लिया। तुमने सोचा, यह मुझसे होड़ करती है, लड़कियों में मेरी धाक व प्रतिष्ठा को चोट पहुँचाना चाहती है। और तुमने हमारी दोस्ती कच्चे धागे की तरह तोड़ दी निर्दयता से।

हममें कटुता की शुरुआत उस दिन के विवाद से हुई। बातों ही बातों में, जैसा कि अक्सर नवयुवतियों के साथ होता है, हम लोग स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों की चर्चा पर उ र गईं। जाने कैसे, तुम्हारे विरोध में आ गई मैं। वैसे मैंने तुम्हारा विरोध खुलकर कभी नहीं किया था। मेरा मत विपरीत होता तो मन-ही-मन दबा जाती, तुमसे बहस न करती। बहुत होता, कभी अकेले में थोड़ी चर्चा कर लेती, लेकिन सबके सामने तुम्हारी-मेरी झड़प कभी नहीं हुई थी। परन्तु जाने कैसे, उस दिन अपने को रोक न पाई मैं। बहस कर ही बैठी तुमसे। मुझे क्या मालूम था, मुझे इसकी इतनी बड़ी कीमत चुकानी होगी।

तुमने कहा, "पुरुष की तरह नारी को भी पूरी आजादी

मिलनी चाहिए।"

मैंने कहा, "नहीं। नारी को आजादी मिले जरूर, पर एक सीमा तक। बन्धन नारी का स्वभाव है।"

"तुम उन उपन्यासों की बात कर रही हो जो पुरुषों ने लिखे हैं।"

"नहीं वसुधा, यह सत्य है।"

"बन्धन से शायद तुम्हारा मतलब शादी से है।"

"हाँ। नारी के लिए शादी बहुत जरूरी है। नारी को अपनी महत्वाकाँक्षाओं की पूर्ति के लिए सबसे पहले एक संबल चाहिए, एक सहारा।"

"यह भी पुरुषों द्वारा कही गई बात!" उपेक्षा से हँसीं तुम, "तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है।"

उस समय का वातावरण मुझे अच्छी तरह याद है। सारी लड़कियाँ दो टोलियों में बँट गई थीं। मामला बहस का न होकर हार-जीत का हो गया था। मैं अपनी जिद पर अड़ी थी, क्योंकि मुझे विश्वास था, मैं सही हूँ। और तुम? तुमने कभी किसी से हार न मानी थी, तुम भी अड़ी थीं अपनी जिद पर। किसकी हार होगी, किसकी जीत—यह करारा सवाल हो गया था।

तुमने कहा, "तो तुम्हारा कहना है, नारी को शादी जरूर करनी चाहिए?"

"हाँ, जहाँ तक मेरा छोटा दिमाग दौड़ सकता है। मैं तो शादी करूँगी और जरूर करूँगी।"

"नारी पुरुष से किस तरह कम है?"

"शारीरिक रूप से।"

"गलत है," तुम बोल उठीं, "नारी चाहे तो पुरुष की ही तरह शक्ति का विकास कर सकती है। सच्चाई तो यह है कि गलत परिस्थितियों ने उसे अबला बना दिया है।"

"वह शक्ति का विकास कर सकती है—मैं मानती हूँ, पर फिर भी वह पुरुष से कमजोर होगी।"

"किस तरह, बता सकती हो ?"

"स्पष्ट कहूँ ?"

"हाँ।"

"पुरुष का पुरुषत्व कोई नारी नहीं लूट सकती, नारी पर जबर्दस्ती की जा सकती है—उसका सतीत्व नष्ट किया जा सकता है।"

"नारी के शक्तिशाली होने पर यह नहीं होगा।"

"नहीं, तब एक से अधिक पुरुष मिलकर जबर्दस्ती कर सकेंगे। इसे कोई नहीं टाल सकता।"

तुमसे जवाब देते न बना। मैंने तुम्हारी आँखों में कुढ़न स्पष्ट देखी।

"नारी को हमेशा एक दायरे में होना चाहिए। संबल प्राप्त करने के बाद ही उसकी सार्थकता है।"

"तो तुम शादी करोगी ?"

"तुम नहीं करोगी ?"

"मैं ?" तुमने मेरी आँखों में झाँका, "मैं ? मैं भी शादी करूँगी !"

अब चौंकने की मेरी पारी थी। मैंने इस जवाब की आशा नहीं की थी तुमसे।

तुमने कहा, "मैं जानती हूँ, तुम सब चौंक रही हो, लेकिन मैं शादी करूँगी बदला लेने के लिए। आज तक नारी ने पुरुष के हुक्म माने हैं। मैं अपने पति से अपने हुक्म मनवाऊँगी। इसीके लिए मैं शादी करूँगी। शादी के लिए शादी नहीं..."

खामोशी छाई रही।

मैंने कुछ देर बाद कहा, "किसी एक को झुकाकर क्या पूरी पुरुष जाति से बदला लिया जा सकता है ?"

"इस तरह मुझे सन्तोष मिलेगा।"

इतनी स्पष्टवादिनी हो तुम, मुझे उस दिन पता चला। मैंने कहा, "तो तुम स्वार्थी हो, केवल अपना सन्तोष खोजती हो।"

"मानव मात्र स्वार्थी होता है। माता-पिता बच्चों को इस-लिए पालते हैं कि बुढ़ापे में सहारा मिले। तुम यहाँ आती हो क्योंकि पढ़ना है। लेक्चरार यहाँ पढ़ाते हैं,क्योंकि तनख्वाह पाते हैं। प्रेम को निस्वार्थ कहा जाता है, लेकिन वहाँ भी स्वार्थ है। उसे भी प्रतिदान चाहिए।"

"मैं स्वार्थ और आशा में भेद मानती हूँ। माता-पिता का स्वार्थ स्वार्थ नहीं, आशा होता है। रही प्रेम की बात। प्रेम चरम सीमा पर पहुँचकर श्रद्धा का रूप धारण करता है और श्रद्धा को प्रतिदान नहीं चाहिए।"

"सारी बातें रटे हुए किताबी वाक्य हैं।"

"नहीं वसुधा, वे सत्य हैं। मुझे उन पर विश्वास है।"

"और मुझे भी अपने पर विश्वास है।"

दोनों ओर विश्वास ! कौन झुकेगा ?

कोई न झुका। बहस का फैसला न हो सका। उठते-उठते

तुमने कहा, "घर जाकर सोचना।"

"और तुम भी सोचना, वसुधा!"

हम दोनों ने क्या सोचा, कोई न जान पाया। यह हमारी आखिरी बहस थी। फिर तुमने मुझसे कटी-कटी रहना शुरू कर दिया। उस दिन लड़कियों का बहुमत मेरी ओर था। तुमने हार भले न मानी थी। लेकिन तुम हार गई थीं। तुम्हारा मान थोड़ा सा घटा था, मेरा बहुत बढ़ गया था। अनजाने ही तुम्हारी प्रतिस्पर्धिनी बन बैठी थी मैं।

तभी एक और घटना घटी।

सरस्वती कालेज की स्टूडेण्ट्स यूनियन का चुनाव हो रहा था। तुम सेक्रेटरी की पोस्ट के लिए खड़ी हुईं।

उस छोटे से कालेज के इतिहास में यह नई बात थी। एक गर्ल कैंडीडेट सेक्रेटरी की पोस्ट के लिए!

मैं तुम्हें अच्छी तरह समझ रही थी। तुम दिखाना चाहती थीं कि केवल लड़कों ने चुनाव में खड़े होने का ठेका नहीं ले रखा है, लड़की भी चुनाव लड़ सकती है।

तुम्हारे विरोध में जो युवक खड़ा था, वह तुम्हारे पास आया और बोला, "कृपया अपना नाम वापस ले लीजिए।"

"क्यों?"

"सेक्रेटरी का काम दौड़-धूप का होता है। आप न सम्हाल सकेंगी।"

"क्यों?"

"इसका उत्तर आप जानती हैं।"

"नहीं, मैं नहीं जानती।"

"इसलिए कि आप लड़की हैं।"

"तो क्या हुआ ?"

"रात को कभी कोई काम आ पड़ा तो आप सड़क पर अकेली घूम सकती हैं ?"

"बेशक ! मुझमें साहस है और साईकिल चलाना मुझे भी आता है।"

"बुरा न मानिएगा, मैं स्पष्टवक्ता हूँ।"

"मैं भी स्पष्टवक्ता हूँ।"

"आप पर गुण्डे हमला कर सकते हैं।"

"मैं अपने पास हथियार रखा करती हूँ।" तुमने कहा और खच्च से एक चाकू बाहर निकाल लिया।

चाकू !

हम सब, जो भीतर से तमाशा देख रही थीं, एकदम सहम गईं। तुम इतनी साहसी हो, हमने कभी न सोचा था। हम में से कोई न जानती थी, तुम चाकू लेकर घूमती हो।

वह युवक चाकू की ओर देखकर हँसा, "चाकू आपसे छीन-कर आपको ही डराया जा सकता है।"

और चला गया वह।

दूसरे दिन उसने जो कहा था, करके दिखा भी दिया।

तुम कालेज के गेट में घुसीं तो दरवाजे पर ही उसने तुम्हें रोक कर कहा, "देखूँ आपका चाकू कितना तेज है ?"

मैं गर्ल्स कॉमन रूम के दरवाजे पर खड़ी थी। आवाज वहाँ तक साफ आ रही थी। मैंने देखा, क्रोध से लाल हो गई तुम। तुम्हारे हाथ में चाकू चमक उठा। मैं काँप गई, चीखते-चीखते

बची। तुमने कड़ी आवाज में कहा, "हट जाओ वरना..."

"वरना ?..." वह आगे आया।

तुम पीछे हटीं।

और उसने तुम्हारी कलाई पकड़कर मरोड़ दी। चाकू नीचे आ गिरा। उसने उसे उठा लिया और अपनी पैंसिल छीलने लगा।

लड़कों की भीड़ जमा होने लगी। वातावरण में सनसनी और फुसफुसाहट भर गई।

युवक ने चाकू तुम्हें लौटाया और कहा, "जाइए। कल तरकारी काटिएगा इससे!"

कॉमन रूम में तुम आईं तो तुम्हारे चेहरे पर राख उड़ रही थी। मैंने कुछ न कहा। कुछ भी कहना तुम्हें छेड़ना होता। आते ही तुमने उसे जी भर कर गालियाँ दीं।

"मैं अभी प्रिंसिपल से रिपोर्ट करती हूँ। रास्कल! वैगा-बांड!"

लेकिन प्रिंसिपल के पास वह तुमसे पहले ही पहुँच चुका था। जो कुछ उसने किया था, साफ-साफ बता दिया था। प्रिंसि-पल ने केवल कर्तव्य-पालन के लिए उसे डाँटा और जब तुम पहुँचीं, तो युवक के सामने ही तुम्हें सुना दिया गया, "यू वे'र रांग, मिस वसुधा!"

तुम लौटीं और गुस्से से फटती रहीं।

बिना तर्क किए जीत गई थी मैं।

और इसकी कीमत मैंने यह चुकाई कि तुम्हें खो बैठी।

तुमने चुनाव से अपना नाम वापस ले लिया।

मुझमें स्वाभिमान है। हरेक में होना चाहिए। जब मेरी बात सच्ची है, मैं क्यों तुम्हारे सामने झुकूँ !

उधर तुम अपनी जिद पर अड़ी थीं। तुमने कभी किसी से हार न मानी थी। तुमने केवल अपनी आज्ञाएँ मनवाई थीं। यदि कोई तुम्हारे साम्राज्य में विद्रोह करता है—तुम्हारी सच्ची-झूठी हर बात मान नहीं लेता है—तो क्यों न उसे साम्राज्य से निकाल बाहर किया जाए ?

और मैं निकाल बाहर कर दी गई। तुमने मुझसे बातें कम कर दीं, धीरे-धीरे बिल्कुल कम। फिर केवल नमस्ते का तकल्लुफ बचा।

मैंने भी सोचा, 'वाह री शान ! नहीं बोलती, न बोले बला से, मर थोड़े जाऊँगी।''

मुझे क्या मालूम था, एक दिन भाभी बनकर आ जाओगी तुम। और दुल्हन बनोगी भी तो अनिमेष की, जो बेचारा गऊ की तरह सीधा है।

अनिमेष
ने
कहा : लगता है, बंधना ही होगा। रिश्तेदार हाथ धोकर भैया के पीछे पड़े हैं, इसकी शादी कर दो। आखिर क्यों नहीं करना चाहता। अच्छी से अच्छी लड़कियाँ हम दिखाते हैं। कम से कम देख तो ले। शादी न करे, सगाई ही कर ले। मना क्यों करता है? पढ़ाई भी पूरी कर चुका। बी० ए० पास किए तीन साल बीत गए। दुकान भी सम्हाल ही रहा है।

सचमुच मेरे पास अब कोई और बहाना नहीं बचा। अब नहीं टाला जा सकता। और आखिर कभी न कभी तो बँधना ही होगा। अम्मा तो कब से पीछे पड़ी हैं। पिताजी भी यही चाहते हैं। भैया, भाभियाँ, निशा सभी चाहते हैं, मैं एक से दो हो जाऊँ।

भैया ईश्वरचन्द्र ने मुझे बुलाया। जो शंका मुझे थी, वही सामने आई। मुसकराते हुए उन्होंने पूछा, "अब और कब तक टालते रहना है?"

समझ कर भी बोला, "मैं समझा नहीं भैया।"

वह हँसे, "समझते सब हो। एक लड़की है। इसी साल बी० ए० किया है। फर्स्ट क्लास फर्स्ट।"

तुरन्त मेरे मन में तुम्हारा नाम कौंध गया। बी० ए० का रिजल्ट निकले अभी पन्द्रह दिन ही बीते थे। युनिवर्सिटी में केवल

तीन विद्यार्थी फर्स्ट डिवीजन में आए थे और तीनों में पहली थीं तुम। सभी ओर तुम्हारी चर्चा थी। निशा ने भी कई बार तुम्हारा नाम मेरे सामने लिया था। जिस दिन रिजल्ट निकला था, अख-बार लेकर वह दौड़ी आई थी मेरे पास और कहने लगी थी, "देखिए भैया, यह मेरी सहेली है। इंटर में भी फर्स्ट क्लास फर्स्ट आई थी।"

उसी दिन से तुम्हारा नाम याद रह गया था। लेकिन सोचा भी किसने था, तुम्हीं से मेरी बात चलेगी।

"उसका नाम वसुधा है। शायद तुमने अखबारों में पढ़ा होगा।" भैया ने कहा।

"हाँ, निशा की सहेली है।"

"देखी है ?"

"नहीं।"

"देखना चाहते हो ?"

मैं चुप।

"जरूर चाहोगे, पूरे जीवन का सवाल है।"

"लेकिन भैया, मुझे सोचने तो···"

"अरे, इसमें क्या सोचना है। लड़की मैंने देखी है। सुन्दर है। होशियार है। घर के कामकाज में भी चतुर है। साधारण स्थिति के घर की लड़की है, हमारे यहाँ सब सम्हाल लेगी। तुम्हें धनवान घराने की लड़की तो नहीं चाहिए।"

"भैया," मैंने कहा, "आप मुझे पहचानते हैं।"

"हाँ, पहचानता तो हूँ, यों ही पूछ लिया। ठीक है, पैसे से हमें कोई सरोकार नहीं। पैसे वालों की लड़कियाँ फैशन कर

सकती हैं, घर का काम नहीं। हमें तो कुशल गृहिणी चाहिए। हमारा कुटुम्ब इतना बड़ा है। दहेज न हमें देना है, न लेना है। निशा के लिए भी प्रगतिशील विचारधारा का कोई वर ढूंढ़ना होगा।"

"जी···"

"निशा की बात अभी छोड़ो। पहले वह बी० ए० हो जाए। अभी तो तुम जवाब दो···"

"भैया," संकोच से मैंने कहा, "अभी कुछ और ठहर जाइए तो ठीक है।"

"क्यों?"

बस, इसी 'क्यों' से मैं डरता हूँ। कई बातें बिना कारण भी हो सकती हैं।

उन्होंने कहा, "लोगों ने मुझे परेशान कर रखा है। और तुम्हारे इन्कार के लिए भी सचमुच अब कोई कारण नहीं। तुम्हें अब शादी कर लेनी चाहिए।"

"परन्तु भैया, वह फर्स्ट क्लास फर्स्ट और मैं केवल···"

"केवल थर्ड डिवीजन बी० ए०, यही न? इससे क्या होता है? नौकरी न उसे करनी है, न तुम्हें। तुम्हें दुकान पर बैठना है, उसे रसोईघर सम्हालना है। डिवीजन से क्या होता है। हाँ, यदि संयोग से हम इतने गरीब हो जाएँ कि घर की बहू-बेटियों को भी नौकरी करनी पड़े तब उसकी डिग्री काम आएगी, लेकिन अभी मैं इसकी संभावना नहीं देखता। डिग्री को मैं केवल सुरक्षा समझता हूँ। निशा को भी इसीलिए आगे पढ़ा रहा हूँ हालाँकि

हमें किसी बात की कमी नहीं। मैंने लड़की वालों को हाँ कह दी है।"

"लेकिन भैया, मुझसे बिना पूछे ?" मैंने साहस किया।

"तुम लड़की देख लो। पसन्द न आए, तो इन्कार किया जा सकता है, लेकिन पसन्द न करने का तुम्हें कारण देना होगा। लड़की बहुत सुन्दर है। निशा के पास उसकी तस्वीर भी है···"

"जी···" हकलाते हुए मैंने कहा, "लेकिन···लेकिन··· मैं···"

"तुम पहले देख तो लो।"

कुढ़ता हुआ मैं बाहर आया। भैया की यह बड़ी बुरी आदत है। हमेशा अपने मन की किया करते हैं। लड़की पसन्द नहीं तो इसका कारण देना होगा! इसमें यही इशारा है कि लड़की तुम्हें पसन्द करनी होगी। मैं भैया की जिद को जानता हूँ। उन्हें जो करना है, होना ही चाहिए। इस घर में उनका ही एकछत्र राज्य चलता है। उनके आगे किसी की भी आवाज नहीं सुनी जाएगी। उनके व्यक्तित्व ने सबको दबा दिया है।

बहुत सोचने के बाद यही निश्चय किया कि कर लूं।

निशा उसी शाम को मेरे पास आई और हँसकर बोली, "भैया, मैं वसुधा के घर जा रही हूँ, पास होने की बधाई देने। चलिए, रिक्शे में पहुँचा दीजिए मुझे।"

"वाह! मैं क्यों पहुँचाने चलूं ? रोज तो अकेली जाती हो।"

"आज डर लग रहा है।"

"डर ? किस का ?"

"वसुधा का। कहेगी, हमारे उनको क्यों नहीं लाई ?"

"देख निशी, मजाक नहीं, हाँ !"

"मजाक क्यों, ठीक तो कहती हूँ।"

"मैं नहीं चलता, तुम चली जाओ अकेली।"

"कहा न, डर लगता है।"

"तो मत जाओ।"

"वह कितनी नाराज होगी ! कहेगी, बधाई देने भी न आई। चलिए न भैया, आपको देखने के लिए वह कितनी उत्सुक होगी।"

"तो खुद क्यों नहीं आ जाती ?"

"आएगी और हमेशा के लिए आएगी, लेकिन आज तो आप चलिए…"

और निशा ने मेरे हाथ पकड़ लिए। नटखट !

"नहीं, नहीं, नहीं, एक बार कह दिया न, मानती क्यों नहीं ?"

"क्यों ? शर्म लगती है ?"

"धत् !"

"तो ?"

"जाती हो या नहीं यहाँ से ?"

"वरना ?"

"वरना यह !" कहकर मैंने उसका कान उमेठ दिया। उसने हल्की उई की और किलकती हुई बाहर भाग गई। फिर मैं भी अकेला-अकेला हँस पड़ा। निशी कितनी अच्छी है !

रहा न गया। निशा ने रिक्शा किया और मैं साईकिल पर

दूर रह कर उसके पीछे-पीछे चलने लगा। निशा को क्या मालूम, मैं पीछे हूँ।

तुम्हारा घर आया। रिक्शा रुका। निशा उतरी। तुम बाहर ही खड़ी थीं। निशा तुमसे बातें करने लगी। उसकी पीठ मेरी ओर थी। उसने मुझे न देखा, मैंने तुम्हें देख लिया। साईकिल धीमी कर मैंने तुम्हें निहारा। अच्छी लगीं तुम। निशा देख न ले, इसका डर था—पैडल मार कर तुरन्त आगे बढ़ गया।

निशा के लौटने से पहले ही मै वापस आ गया।

निशा आकर बनावटी गम्भीरता से बोली, "भैया, मैंने कहा था न, वह नाराज होगी।"

"चुप शैतान!"

"कहने लगी, मै देखे बिना शादी नहीं करूँगी।"

"न करे बला से!"

"कैसे न करेगी। मैंने कह दिया, दिखा दूँगी।"

क्रुद्ध कर मैंने उसे पकड़ने की चेष्टा की, पर भाग गई वह तो।

दूसरे दिन निशा ने आकर कहा, "भैया, वसुधा की एक विशेषता जान रखो।"

"क्या?"

"नहीं बताते जाओ!"

"तो भागो यहाँ से!"

"अच्छा, बताती हूँ।"

"नहीं, मत बताओ।"

"यह कि आपको गुलाम बनाकर छोड़ेगी।"

"जा, जा, बड़ी आई गुलाम बनाने वाली। होगी खूबसूरत तो खूबसूरती खुद धरी रहे। हमें परवाह नहीं।"

"नहीं, खूबसूरती की बात नहीं है।"

"फिर ? बदसूरत है क्या ?" मै बना।

"नहीं, है तो खूबसूरत, लेकिन एक दूसरी बात है।"

"क्या ?"

"वह जिद्दी है। उसकी हर बात आपको माननी होगी।"

"हूँ, बड़ी आई। आने तो दो उसे, दिमाग ठीक कर दूँगा।"

निशा छोटे बच्चे की तरह ताल ठोककर बोली, "ठीक है, मैं भी उसकी जिद तोड़ दूँगी। समझे भैया, वह कालेज में भी मुझसे लड़ा करती थी। जानते हो, क्यों ?"

"क्यों ?"

"इसलिए कि मैं उसकी हरेक बात स्वीकार नही करती थी।"

"तब तो बड़ी लड़ाका होगी।"

"अरे खूब, लेकिन मैं सीधी कर दूँगी।"

"मैं अकेला ही निपट लूँगा। मुझे भी कम मत समझो।"

"अकेले आपसे कुछ न होगा।"

"अरे जा, देखी बड़ी झाँसी की रानी।"

और मजाक करते रहे हम लोग। मजाक में कितनी बड़ी समस्या छुपी है, मुझे क्या मालूम था।

इसके बाद एक दिन बिल्कुल अचानक भैया और अम्मा मुझे अपने साथ लेकर तुम्हारे घर आ पहुँचे। चाय-नाश्ता हुआ।

हमने एक-दूसरे को परखा। मुझे आशा थी, तुम इन्कार कर दोगी। आखिर मुझमें आकर्षण ही क्या था। लेकिन तुमने हाँ कह दी। मेरी ओर से इन्कार की सम्भावना थी ही नहीं—मैं तो भैया की आज्ञा का गुलाम था। इन्कार करता तो भैया कारण पूछते। तब मैं क्या कहता? हर बहाने और झूठ की एक सीमा होती है।

शहनाई कूकी···

तुम मेरी पत्नी बनकर आ गई···

पहली रात।

मैंने कमरे में प्रवेश किया। सोचा था, घूँघट में अपने को छुपाए बैठी होगी तुम—खरगोश की तरह शरमाती हुई। लेकिन नहीं, तुम बेझिझक बैठी थीं—तुम्हारा चेहरा उघड़ा हुआ था। जाने क्यों, कठोर सा लगा। मैंने इसकी कल्पना न की थी। आवरण ही नारी को सौंदर्य देता है।

आते ही तुमने सबका ध्यान आकर्षित कर लिया। हर नई बहू ऐसा कर सकती है। पड़ोसिनें तुम्हें घेरे रहतीं। भाभियों के बच्चे नई काकी, नई काकी करते तुम्हारे पीछे छाई की तरह घूमा करते। तुम्हारी हर आज्ञा मान ली जाती।

निशा एक दिन मेरे पास आई और हँसकर बोली, "भैया, भाभी को तो बहुत बड़ा साम्राज्य मिल गया है।"

"कैसे?"

"और नहीं तो क्या, हर कोई उनकी आज्ञाएँ सिर-आँखों चढ़ाता है, भाभियाँ उनकी कोई बात नहीं टालतीं। जैसे महा-रानी हों!"

मैं हँस पड़ा।

निशा ने कहा, "और यही वह चाहती भी हैं।"

"तुम तो कहती थीं, वह मुझ पर भी हुक्म चलाएगी, पर ऐसा तो कुछ हुआ नहीं।"

"मुझे अभी भी शक है भैया।" उसने कहा, "अभी दिन ही कितने बीते हैं। आप सावधान रहिएगा।"

"परंतु इसके माने यह भी तो नहीं कि उसकी हर बात नकार दी जाए।"

"नहीं, उनकी बातें आप मानिए जरूर, लेकिन तौल-तौल कर।"

"चल भाग, छोटी होकर उपदेश देती है।"

हम दोनों हँस पड़े।

लेकिन कुछ ही दिनों में तुम्हारा आकर्षण कम हो गया। नई काकी न रहीं तुम, केवल काकी रह गई। नई बहू न रहीं तुम, केवल बहू रह गई। और फिर 'छोटी' विशेषण भी लग गया तुम्हारे आगे। भाभियाँ अब तुम्हारी हर बात सिर-आँखों न लेतीं। बच्चे तुमसे अधिक अपने दोस्तों को चाहने लगे। हर नई बहू के साथ यही होता है। तुम्हारी नाक, तुम्हारी आँख, तुम्हारे गाल, तुम्हारे होंठ—किसी में भी अब नयापन नहीं था। यह बात नहीं कि तुम्हारा मान बिल्कुल घट गया हो, लेकिन उसमें थोड़ी कमी जरूर हुई। यह स्वाभाविक था।

पर इसे तुम सहन न कर पाई। तुम्हें लगा, तुम्हारा साम्राज्य लुट रहा है, तहस-नहस हो रहा है। तुमने उस साम्राज्य को समेटने की कोशिश की, लेकिन खुद टूट कर, बिखर कर रह गई।

हमारा कुटुम्ब समुद्र जैसा है। मेरे दादा-दादी अभी जीवित हैं। उन्होंने घर में रुतबा खो दिया है, लेकिन वे उपेक्षित नहीं हैं। उन्हें एक छोटा सा कमरा दे दिया गया है जहाँ वे ईश्वर की पूजा में लगे रहते हैं। उनके बाद मेरे माता-पिता घर के सबसे बड़े बुजुर्ग हैं। उनका रुतबा है पर अब वे निवृत्ति का जीवन बिताने लगे हैं। घर के कामकाज में रुचि अवश्य लेते हैं, लेकिन उसकी चिन्ता नहीं करते। उन्हें अब परलोक की चिन्ता ज्यादा है। मन्दिरों को भेंट, गरीबों को दान आदि में वे अधिक व्यस्त रहते हैं।

उनके बाद भैया ईश्वरचन्द्र। घर में सबसे अधिक मान उनका ही है। उनकी कोई बात नहीं टाली जा सकती। व्यापारी सम्बन्धों के कारण वह प्रायः शहर से बाहर रहते हैं। तब घर का वातावरण आजाद हो जाता है। जब वह उपस्थित होते हैं, सब नियमों में बंध जाते हैं। बच्चे हल्ला नहीं कर सकते। समय पर उन्हें नहा लेना होता है। समय पर वे स्कूल के लिए तैयार न हुए तो उनकी खैरियत नहीं। भोजन के समय में यदि गड़बड़ी हुई तो बहुओं को भाषण सुनने के लिए तैयार रहना पड़ता है। कहीं गन्दगी नहीं होनी चाहिए, कहीं कोई बिखराव न होना चाहिए। हर चीज अपने स्थान पर। लेकिन ये सारे बंधन उनके शहर से बाहर जाते ही खुल जाते हैं।

उनकी अनुपस्थिति में छोटे दो भाई—दिनेशचन्द्र और महेश-चन्द्र खदान का काम सम्हालते हैं। मैं अपने इलेक्ट्रिकल स्टोर चला जाता हूँ। मैं—सबसे छोटा और सबसे सीधा। मैं आदर तो

पाता हूँ पर मेरी धाक नहीं है। और धाक की मुझे चाह भी नहीं है।

मेरे बाद निशा—मेरी सबसे प्यारी बहन।

निशा से तीन बड़ी बहनें और हैं। वे अपनी ससुराल में हैं। कभी वे अपने शैतान बच्चों के साथ यहाँ आती हैं तो घर में जो शोर मचता है वह शादी के हो-हल्ले से कम नहीं होता। ईश्वरचन्द्र भैया के पाँच बच्चे हैं, छोटे भाइयों के क्रमशः चार और तीन। उनके मारे भी घर दिन भर गूँजता रहता है।

तुम आईं और इन सब पर तुमने राज्य किया। लेकिन कुछ दिनों में तुम्हारा प्रभाव घटा और तुम बौखला गईं। मैं परेशान हो गया।

एक दिन मैं घर लौटा तो देखा—तुमने घर के बच्चों को इकट्ठा कर लिया है और जाने कौन सी दिलचस्प बात सुना रही हो। अचानक तुमने पूछा, "बोलो बच्चो, चाय पीनी चाहिए ?"

एक स्वर में बच्चों ने नारा लगाया, "चाय नहीं पीनी चाहिए।"

तुमने कहा, "शाबास ! एक बार और।"

फिर से उन्होंने नारा लगाया, "चाय नहीं पीनी चाहिए।"

मैं पास आकर हँसा, "यह क्या मचा रखा है वसू !"

"इनको अक्ल सिखा रही हूँ।" उठते हुए तुमने कहा।

"क्या तुम सोचती हो, ये चाय पीना छोड़ देंगे ?"

"क्यों नहीं। चाय अच्छी चीज थोड़े ही है।"

"यह मैं मानता हूँ, लेकिन इन सबको आदत पड़ चुकी है।"

तुमने विश्वास के साथ कहा, "ये बच्चे चाय नहीं पिएँगे।"

दूसरे दिन सचमुच किसी ने चाय न पी। जाने क्या जादू किया था तुमने। घर में चर्चा छिड़ गई—यह छोटी बहू की करामात है।

मैंने निशा से कहा, "आज तो चारों ओर बसू ही बसू है। कमाल कर दिया उसने भी।"

"उनमें अद्भुत शक्ति है। वह राज्य करना जानती हैं।"

लेकिन बच्चों के दिमाग का क्या कहना, दूसरे दिन तो नहीं लेकिन तीसरे दिन उन्होंने फिर से चाय पीना शुरू कर दिया। तुम चिढ़ीं—बहुत चिढ़ी। तुम हार रही थीं। तुमने बच्चों को इकट्ठा करना चाहा पर इस बार किसी ने तुम्हारी न सुनी। बच्चों की अम्माओं ने उन्हें शौक से चाय पिलाई, तुम्हें दिखा-दिखाकर पिलाई। तुम्हारे चिढ़ने में उन्होंने मजा लिया।

रात को तुम्हारी आँखों में आँसू देखकर मैंने कहा, "पगली हो तुम, बच्चों की बातों का क्या बुरा मानना। छोड़ो इन सब को।"

"बच्चे भले पीएँ, पर तुम मत पीयो।"

"क्यों?" मुझे हँसी आ गई।

"इसलिए कि मैं नहीं पीती।"

"तुम्हारे लिए यह सम्भव है, लेकिन मुझे घर से बाहर रहना पड़ता है। मित्रों में बैठकर चाय से इन्कार करना आड लगेगा।"

तुम्हारा मुँह तमतमा आया। उठकर बाहर चली गईं तुम। दो दिन तक तुम उखड़ी-उखड़ी रहीं—मुझसे बोलीं तक नहीं। मैंने भी परवाह न की। छोटी सी बात का इतना मुँह फूलता है तो घर-गृहस्थी में तो हजार टंटे लगे रहते हैं।

निशा से मैंने कहा, "वह तो मुझसे भी चाय छोड़ने को कह रही थी।"

"उन्हें हुक्म देने की आदत है।"

"मैं सावधान हूँ निशा, मैंने उसकी बात कहाँ मानी है।"

निशा मुसकराई नहीं। जाने किस सोच में डूब गई।

"वह तुमसे अच्छी तरह पेश आती है या नहीं?" मैंने पूछा।

"कुछ कटी-कटी सी रहती हैं। हँसकर बोलती जरूर हैं पर लगता है, जबरदस्ती हँस रही हैं।"

"कालेज के दिनों की कटुता अभी तक गई नहीं क्या?"

"मैं तो दिल खोलकर बैठी हूँ, वही पास नहीं आतीं, मैं क्या करूँ।"

मैं चुप रहा।

"भैया, अच्छा होता, यह शादी न हुई होती।"

मैं चौंक गया।

"हाँ भैया, वह तुम्हारे लायक नहीं हैं। तुम्हें शांत स्वभाव की पत्नी चाहिए थी। भाभी ठीक उल्टी हैं।"

"तुमने पहले क्यों न बताया?"

"बता भी देती तो क्या होता, रिश्ता तो ईश्वर भैया ने तय किया था। वह भी कम जिद्दी थोड़े हैं।"

"तुम्हें बताना चाहिए था।"

"मैंने सोचा, शादी होनी ही है, क्यों पहले से…"

"ओह, तुमने भूल की निशा।"

निशा चली गई—बिना जवाब दिए।

चार-छह दिनों में यह बात दब गई।

मैं तुम्हें समझ गया था, तुम किसी न किसी बहाने चर्चा का विषय बनना चाहती थीं। तुम अपनी उपेक्षा होते न देख सकती थीं। चारों ओर अपना ही नाम सुनना चाहती थीं तुम। यह एक नशा था जिसके आगे तुम लाचार थीं। निशा ने भी तुम्हारा यही विश्लेषण किया था।

एक नई बात तुमने उठाई—तुम घूंघट नहीं निकालना चाहतीं।

मैंने कह दिया, "वसू, घूंघट का विरोधी मैं भी हूँ, लेकिन जब तक बड़े भैया हैं, मैं कुछ नहीं कर सकता। तुम्हें घूंघट निकालना चाहिए। इतने दिनों तक निकाला ही है।"

"अब नहीं निकालना चाहती।"

"क्यों?"

"बस, नहीं चाहती।"

वही जिद, वही अकड़।

"भैया के सामने तुम्हें कारण देना होगा।"

"वह मैं दे लूँगी।"

"उनके सामने बोलने की तुम्हारी हिम्मत पड़ेगी? मैं तक डरता हूँ।"

"मुझे किसी का डर नहीं लगता।"

"किसी का नहीं?"

"हाँ, किसी का नहीं।"

"भैया का जवाब मैं जानता हूँ, वह कभी न मानेंगे।"

"उन्हें मानना होगा।"

"असम्भव है। उल्टे मुझे डाँट पड़ेगी कि बहू पर इतना भी काबू नहीं।"

"तो रखो काबू !" कहा तुमने और हँसीं।

इसमें मजाक था या चुनौती ? मैंने तुम्हारी ओर देखा। कुछ समझ न पाया।

"तुम तो घूँघट के विरोधी हो न ?"

"हाँ।"

"बस तो फिर। मियाँ बीवी राजी तो क्या करेगा काजी।"

"नहीं वसुधा, इस घर में ऐसा नहीं है। इस घर में मैं कुछ नहीं हूँ, सब कुछ ईश्वर भैया हैं। वह जिद्दी हैं।"

"हमको भी जिद करना आता है।"

"पछताओगी, साथ ही मुझे भी परेशान करोगी। मेरी मानो, यह पागलपन छोड़ो।"

"यह नहीं हो सकता।"

"तो जाओ, मरो !" मै झुँझला पड़ा।

तुमने सुझाया, "जेठजी अक्सर शहर से बाहर रहते हैं। तब घूँघट न निकालूँ तो ? फिर धीरे से आगे बढ़ा जा सकता है।"

"यह तो और भयंकर होगा वसू, भैया मेरी जान निकाल लेंगे। भैया से कोई बात छुपी नहीं रह सकती, यह जान लो। यह तो उनको धोखा देना होगा। तुम्हें न भूलना चाहिए कि तुम मेरी पत्नी हो और मैं भाइयों में सबसे छोटा हूँ। स्वभाव से मैं सीधा हूँ, अपने विचार रखता हूँ पर उनके लिए किसी से लड़ नहीं सकता।"

"यह तो कायरता है।"

"जो चाहो कह लो। मेरे अनुसार हर व्यक्ति को अपने विचार रखने का अधिकार है, पर उन्हें किसी पर थोपने का नहीं।"

"लेकिन किसी से मनवाने का तो है।"

"हाँ, है।"

"आप अपने भैया से मनवा लीजिए।"

"यह मुझसे नहीं हो सकता।"

"मैं कुछ नहीं जानती, मैं तो घूँघट नहीं निकालूँगी।"

लेकिन तुम्हें घूँघट निकालना पड़ा। बहुत कड़ी शर्त रखी गई थी तुम्हारे सामने। या तो घूँघट निकालो या जाओ अपने मायके। ईश्वर भैया अनुशासन में किसी तरह की दया नहीं बरतते। मुझे बुलाकर उन्होंने पूछा, "तुम्हारी पत्नी क्या कहती है ?"

"पागल है।"

"तुमने रोका नहीं ?"

"रोका, नहीं मानती।"

"तुम्हारी बात नहीं मानती—तुम्हारी ?"

स्पष्ट भर्त्सना ! मेरी आँखें झुक गईं।

"तुम उससे दबते हो ?" इस बार स्वर में आत्मीयता थी।

"नहीं।"

"मुझे लगता है, दबते हो।"

"नहीं।"

"मत दबो। उसे समझा दो।"

"जी।"

एकान्त में मैंने तुम्हें समझाना चाहा।

"मैं अनशन कर दूँगी।"

"तुम मुझे इस घर में रहने देना चाहती हो या नहीं ?"

लेकिन तुम न मानीं, अनशन कर ही दिया तुमने। पर तुम अकेली थीं—निपट अकेली। किसी की सहानुभूति तुम्हारे साथ न थी। तुमने गलत राह अपनाई थी। निशा ने तुम्हें समझाने की पूरी कोशिश की पर तुम क्यों सुनतीं उसकी ?

"निशा, आखिर यह चाहती क्या है ?"

"भाभी केवल सबका ध्यान अपनी ओर खींचना चाहती हैं। भैया, यह घर उनके लायक नहीं है। यहाँ तो एक सागर है, किसी का भी महत्व एक बूँद से अधिक नहीं, सब मिल-जुलकर काम करते हैं। भाभी को यह नहीं चाहिए। वह हर ओर केवल अपना नाम और काम देखना चाहती हैं।"

"अनशन के बहाने वह सबकी चर्चा का विषय बनी हुई है।"

"पूरे मुहल्ले में यह बात फैल गई है।"

तुम सूखती गई और एक दिन बेहोश हो गई। भैया की आज्ञा के अनुसार तुम्हें मायके भेज दिया गया।

तुम्हारी अम्मा ने मुझसे पूछा, "बेटा, अब क्या होगा ?"

"कुछ नहीं अम्मा, भैया का गुस्सा शान्त हो जाएगा। तुम इसे समझाओ, यह अपना जिद्दी स्वभाव छोड़ दे।"

"यह तो बचपन से जिद्दी है।"

"पर अब तो बचपन नहीं रहा।"

तुम्हारी अम्मा रो दीं।

ईश्वरचन्द्र

ने

कहा : मुझे दोनों से शिकायत है—अनिमेष से भी, उसकी पत्नी से भी। अनिमेष अच्छा पति नहीं, वसुधा अच्छी पत्नी नहीं।

वह पति क्या जिसकी उपेक्षा उसकी पत्नी कर जाए? वसुधा अनिमेष की कौन सी बात मानती है? मानना तो दूर, प्रायः विरोध ही करती है। और अनिमेष है कि सहे जाता है। क्यों? क्या इसलिए कि दबना उसकी आदत हो गई है? मैंने उसे अच्छी तरह समझाया है, पढ़ाई में कमजोर होने से तुम पत्नी से हीन नहीं हो जाते। वह हामी भरता है, लेकिन उसमें विद्रोह पैदा नहीं होता। "मैं दबता थोड़े ही हूँ!" कहकर भी वह दबता है। मैंने कई कुटुम्बों में देखा है—पति मैट्रिक पास, पत्नी बी० ए०। लेकिन पति आता है, पत्नी बराबर सहमती है। अनिमेष तो बी० ए० है, डिवीजन के फर्क से क्या होता है? लेकिन अनिमेष समझे तब तो। समझता होता, घूँघट को लेकर इतना हंगामा कैसे होता? अनशन करने की हिम्मत ही कैसे पड़ी वसुधा बहू को?

वह पत्नी पत्नी क्या जो परिस्थितियों में अपने को ढाल न सके। हर नए साँचे में ढल जाना ही नारी का आवश्यक गुण है। और वसुधा, वह तुममें नहीं। तुम जिद्दी हो। केवल अपनी बात मनवाना चाहती हो। कुटुम्ब में, वह भी बड़े कुटुम्ब में वह कैसे

हो सकता है ? साथ ही क्यों भूलती हो, तुम छोटी बहू हो ?

हर पुरानी चीज बुरी नहीं होती, हर नई चीज अच्छी नहीं होती। जीवन में दोनों का मेल होना चाहिए। दहेज बुरी प्रथा है, ठीक है, मानता हूँ और उसे दुतकारता भी हूँ। दहेज न लूँगा न दूँगा। निशा की शादी बिना दहेज के ही होगी। लेकिन घूँघट ? नहीं, मैं उसे बुरा नहीं समझता। नया खून कहता है—घूँघट अविश्वास का, बन्धन का प्रतीक है। मैं कहता हूँ—श्रद्धा, मर्यादा और मान का प्रतीक है। जेठ या श्वसुर के सामने बहू बिना किसी संकोच के नंगा चेहरा लिए निकल जाए, अच्छा लगेगा ? चेहरे पर कुछ तो होना चाहिए। शील और लज्जा ही तो नारी के आभूषण हैं। वसुधा, घूँघट छोड़कर तुम अपना नारीत्व छोड़ना चाहती हो। नहीं, जब तक मैं जिन्दा हूँ, यह असम्भव है। अनिमेष तुमसे दबता है, ठीक है, पर तुमसे कहीं ज्यादा मुझसे दबता है। बचपन से वह मेरी छाया में पला है। तुम्हारे लिए मेरा अपमान कभी न करेगा।

मायके से तुम लौटीं—घूँघट के साथ। मैंने तुम्हें दूर से देखा, बहुत दुबली लगीं तुम। अनिमेष को बुलाकर पूछा, "वहाँ बहू की तबीयत ठीक नहीं थी क्या ?"

"नहीं भैया, ठीक ही थी।"

"घूँघट निकालेगी ?"

"जी।"

"ठीक है। उसके लिए टॉनिक वगैरह का ख्याल रखो।"

"जी।"

"और देखो, आगे से उसे दबाव में रखो।"

"जी।"

"रख लोगे ?"

"कोशिश करूँगा।"

"तुम्हें रखना होगा।"

"जी।"

और वह बाहर चला गया। मैं सोच में पड़ गया। जी! केवल जी! मेरे सभी सवालों का जवाब केवल 'जी' में होता है। ठीक है—वह मुझसे दबे यह ठीक ही है। पर अपनी पत्नी से भी? उनकी बातचीत की मुझे कुछ-कुछ कल्पना आती है। अनिमेष बाहर जाने को तैयार हो रहा है। वसुधा पूछती है, "कहाँ चले ?"

"जरा दोस्तों के यहाँ।"

"कब तक लौटोगे ?"

"सात तक।"

"छह तक लौट आओ।"

"अच्छा।"

"पिक्चर चलेंगे।"

"हुँ।"

"हुँ नहीं, चलेंगे।"

"हाँ, चलेंगे।"

"खाना रेस्तराँ में खा लेंगे।"

"घर पर खाना खराब न होगा ?"

"खराब क्या होगा, नौकरों को मिल जाएगा। कभी रेस्तराँ में भी खाना चाहिए।"

"अच्छी बात है, वहीं खा लेंगे।"

"मेरे साथ दो सहेलियाँ भी होंगी। टिकट तुम्हीं लेना।"

"ठीक है।"

और सचमुच वह सात की जगह छह को लौट आता है। पत्नी ने जो कुछ कहा है, सब हो जाता है।

मैं होता उसके स्थान पर। पत्नी पूछती, "कहाँ चले ?"

"तुम अपना काम देखो। पुरुषों के काम में दखल नहीं देना चाहिए।"

"बहुत दिनों से पिक्चर नहीं गई।"

"जान मत खाओ, कभी चलेंगे।"

फिर क्या मजाल किसी की जो आगे कुछ पूछ लिया जाए। पति का इतना दबदबा तो होना ही चाहिए। अनशन का साहस—चुनौती देने का साहस तो पत्नी सपने में भी नहीं कर सकती।

लेकिन वसुधा ने यह साहस किया है। यों वह हार गई है—उसे हारना ही था—और वह वापस भी आ गई है—पर एक बार तो साहस कर ही चुकी है न ? क्या तय, आगे फिर न करेगी ?

और वसुधा बहू,उस दिन की बात मैं कभी न भूलूँगा। हाँ, उससे बड़ा अपमान मेरा क्या हो सकता था ? हालाँकि तुम्हें सजा मिली पर शायद उतनी नहीं जितनी मिलनी चाहिए थी।

तुम्हारी कुछ सहेलियाँ आई हुई थीं। मेरी माँ उस समय कमरे में पूजा कर रही थीं। एक सहेली ने उनकी ओर इशारा करके पूछा, "कौन है ?"

माँ ने उस समय फटी साड़ी पहनी थी। बालों का कुछ

ठीक न था। बुढ़ापे के कारण चेहरे पर शिकायत उभरी हुई थी। और तुम न कह सकीं, वह तुम्हारी सास है। तुम्हारी हेठी थी न! ऐसी औरत और सास! तुमने कह दिया, "एक ब्राह्मणी है। पूजा के लिए रख ली है।"

मैं उस समय वहीं से निकल रहा था। सुना तो बदन में आग लग गई। तुरन्त मैं कमरे में घुस पड़ा। तुम्हारे आश्चर्य की सीमा न रही। और...तुमने मेरा घूँघट न निकाला। कालेज की सहेलियाँ जो मौजूद थीं।

मैंने क्रोध से पूछा, "क्या बातें हो रही थीं?"

"कुछ नहीं बाबूजी।"

"कुछ तो हो रही थीं। कौन सी ब्राह्मणी?"

तुम कुछ न कह सकीं।

"तुम में इतना भी दम नहीं है कि अपनी सास को सास कह सको?"

तुम्हारा चेहरा रुई हो गया। मैं बाहर निकल आया।

सहेलियों के सामने तुम्हारी हेठी करके मैं बड़ा प्रसन्न था। तुमने मेरी माँ का अपमान किया था, अपनी सास का अपमान। मैंने अनिमेष को न बताया। अनिमेष ही क्यों, किसी को भी न बताया। अनिमेष भावुक है, सुनकर उसे दुःख होता। तुमसे एक दो शब्दों के सिवा कुछ कहता नहीं, केवल तुम्हारी ओर विचित्र निगाहों से देखता। मैं बचपन से उसे जानता हूँ—यही उसकी आदत है। शायद इसलिए कि वह सबसे छोटा है, हमेशा से दबता रहा है।

और समझ लो, तुम यहाँ बहू बनकर आई हो, होटल खोलने

नहीं। पार्टियाँ दी जा सकती हैं,दी भी जानी चाहिए,पर एक हद होती है। तुम उस हद को लाँघने की कोशिश कर रही थीं। मैंने देखा पर कुछ न कहा। सोचा, अभी नया जोश है, सम्हल जाएगा। पर तुमने देखा कि जेठ तरह दे रहे हैं और अनिमेष को तो कुछ कहने का हक है ही नहीं, तो पार्टियों की संख्या बढ़ती चली। हमारे पास इतना कुछ है कि रोज पार्टियाँ दी जाएँ तो भी कुछ नहीं पर दूसरे पहलू भी तो होते हैं। यह मर्यादा का सवाल है जो हमेशा मेरी आँखों के सामने रहता है।

तुम्हारे अनशन के समय मैंने तुम्हें अच्छी तरह समझा दिया था कि हमारा घर घर है और अच्छा घर है। समाज में उसकी जगह है। इस घर में मर्यादा लाँघी न जा सकेगी। इस पर लोगों की चौकन्नी आँखें लगी होती हैं। कुछ भी छुपाया नहीं जा सकता। पार्टियों के कारण जब तुम चर्चा का विषय बनीं, तो मुझसे सहन न हो सका। बहुत दिनों से सोच रहा था तुम्हें डाँटूँ, पर व्यस्तता के कारण मौका न मिलता था। अक्सर किसी काम से मैं शहर से बाहर रहता।

एक दिन मुझे मौका मिला।

उस दिन पार्टी समाप्त हुई और तुम मेरे कमरे की ओर जा रही थीं। तुमने मुझे आते देखा तो घूँघट निकाल लिया। तुम्हारे चेहरे पर अनिच्छा तैर रही थी, जो मैंने स्पष्ट देखी। तुम एक ओर हट गईं ताकि मुझे अन्दर जाने का रास्ता मिले, पर मैं खड़ा हो गया। कहा, "और कितनी पार्टियाँ बची हैं?"

तुम कुछ न बोलीं।

"सुना नहीं क्या?"

"बस बाबूजी, अब नहीं करनी हैं।"

"हूँ, पर अब तक कितनी हो चुकी हैं यह तो बताओ।"

तुम फिर चुप।

पप्पू ने सारे घर में ऐलान कर दिया, बाबूजी छोटी काकी से बातें कर रहे हैं। जरा सी देर में हम चारों ओर से घिर गए। मैंने इसकी आशा न की थी। इससे जाहिर हो गया था कि घर के लोग तुम में कितनी ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं। हमारा कुटुम्ब बहुत बड़ा है। स्वाभाविकत: ही इस घर में किसी अकेले व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है, लेकिन तुमने अपना अलग अस्तित्व बना रखा था। सभी तुम्हें इस तरह देखते थे कि यह बहू विचित्र है। बच्चे निधड़क पास आकर हमें घेर कर खड़े हो गए और बड़ी उत्सुकता से हमारी ओर ताकने लगे। बहुओं ने दरवाजों की आड़ ली और सुनने लगीं, आज जेठजी छोटी बहू को कैसी सुनाते हैं। मुझे यह देखकर मन-ही-मन बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं यही चाहता था, अधिक-से-अधिक लोगों के सामने तुम्हारी हेठी करना चाहता था जिससे तुम्हारा दम्भ, तुम्हारी जिद चूर-चूर हो जाए। मेरा स्वर और कठोर हो गया। पूछा, "पन्द्रह तो हो ही गई होंगी, क्यों बहू?"

"पार्टियाँ?" पप्पू ने कहा, "जरूर हो गई होंगी। कितनी सारी लड़कियाँ आती हैं।"

तुम घबरा गई थीं, मानो तुम्हें अचानक ही अदालत में खड़ा कर दिया गया हो।

चार-छह मिनट खामोशी में बीत गए। मैं शान से खड़ा था, तुम्हारा चेहरा नीचे को झुका हुआ था। इसके बाद न तुमने एक

शब्द कहा, न मैं ही कुछ बोला। दोनों चुपचाप खड़े रहे। भीड़ बढ़ गई। चुप्पी सबकी उत्सुकता बढ़ा रही थी। खुसरपुसर होने लगी।

और मैं बिना कुछ कहे चला गया। मेरे जाते ही तुम्हें घेर लिया गया होगा और तुम पर प्रश्नों की बौछार लग गई होगी। जब भी मैं किसी बहू से बात करता हूँ, ऐसा ही होता है—मुझे मालूम है। पता नहीं, तुमने क्या जवाब दिए पर कुछ दिनों तक घर में चुप्पी छाई रही।

पन्द्रह दिन बीते होंगे कि फिर से एक घटना घटी। वह यों तुमसे ही सम्बन्धित थी पर मैंने तुम्हें इसका पता न चलने दिया। तुम्हारे कालेज का एक छात्र तुमसे मिलने आया था। आकर कहने लगा, मैं उसका मित्र हूँ! एक कुलवधू का एक अनजान लड़का मित्र! मैं उसे भगा देता पर वह शालीन लगा, गंभीर भी था। मैंने कहा, "आओ, बैठो।"

वह ड्राइंगरूम में आया।

"तो तुम बहू के दोस्त हो।"

"जी।"

"दोस्ती कैसे हुई?"

"यूनियन के इलैक्शन में हम दोनों विरोध में खड़े हुए थे। बाद में उन्होंने नाम वापस ले लिया। तब से बातचीत शुरू हो गई।"

"बहुत घनिष्ठता है?"

"नहीं," उसने बेधड़क कहा, "केवल बातचीत।"

"फिर घर तक आने का साहस कैसे किया?" मैंने सीधा

प्रश्न किया।

जैसे वह कुछ चौंका, "इसमें साहस की क्या बात है? शादी की बधाई देने चला आया।"

"बहुत जरूरी था?"

"माफ कीजिएगा, आपको बुरा लगा हो तो मैं जाना चाहूँगा।"

"नहीं, नहीं, बैठो। बातचीत करने में मैं जरा अक्खड़ हूँ। बैठो।"

न चाहते हुए भी वह बैठा।

"बी० ए० हो चुके?"

"नहीं, इस वर्ष हो जाऊँगा।"

"मैं कुछ विषयों पर तुम्हारे विचार जानना चाहता हूँ।"

वह मेरी ओर देखता रहा।

"हर नई चीज अच्छी और हर पुरानी चीज बुरी नहीं होती। तुम्हारा क्या मत है?"

"मैं आपसे सहमत हूँ, लेकिन अक्सर लोग सही चुनाव नहीं कर पाते।"

"याने?"

"कौन सी नई चीज अच्छी और कौन सी पुरानी चीज बुरी, इसको पहचानना कठिन है।"

"कैसे?"

"दहेज, घूँघट, बालविवाह आदि बुरे हैं," उसने कहा, "परन्तु कई बार लोग इन सबको छोड़ नहीं पाते हैं। कभी दहेज नहीं छूटता है, कभी घूँघट, कभी और कोई प्रथा।"

अनजाने में ही वह मुझ पर व्यंग्य कर रहा था। मैंने पूछा, "मैं घूँघट को बुरा नहीं मानता।"

"बालविवाह और दहेज का सवाल ज्यादा गंभीर है। घूँघट का सवाल बाद में आता है। निजी तौर पर मैं इसे पसन्द नहीं करता पर इसको छोड़ने का मतलब मैं बेअदबी भी नहीं लगाता।"

"इसको न छोड़ना ही ठीक है।"

"नहीं, छोड़ा तो जाना ही चाहिए।"

"क्यों ?"

"नारी को हमें आजाद करना ही होगा। घूँघट बहुत बड़ा मानसिक बन्धन है।"

"नारी हमेशा शासन में रहनी चाहिए।"

"मैं कहूँगा कि नारी को ही नहीं, पुरुष को भी शासन में रहना चाहिए।"

"वह किसके शासन में रहे ?"

"नारी के। दोनों एक-दूसरे पर शासन करें।"

"संघर्ष होगा।"

"नहीं होगा।" उसने कहा, "सहयोग होगा।"

काफी देर तक हमारी बातचीत चलती रही। मैंने उसे झुकाने की कोशिश की, पर वह आखिर तक बहस करता रहा। बहस को समेटते हुए मैंने कहा, "छोड़ो, हमें एक-दूसरे पर अपने मत न थोपने चाहिए।"

उसी समय जैसे मेरे भीतर कोई व्यंग्य करता हुआ हँसा। मन में से एक आवाज उठी, 'कहने को तो तुमने कह दिया

ईश्वरचन्द्र, पर क्या तुम अपने कुटुम्बियों को अपना मत रखने देते हो? क्या तुम उन पर अपने निजी विचार थोपते नहीं हो?'

जाते-जाते उसने कहा, "कभी-कभी पुरानी प्रथाएं हास्यास्पद ढंग से स्वीकार की जाती हैं। नाइलोन या पतली साड़ी के पारदर्शक घूँघट का क्या मतलब है?"

हम दोनों हँस पड़े।

उससे आखिरी बात मैंने कही, "इस घर में मर्यादा का बन्धन बहुत कड़ा है। मुझे खेद है, मैं तुम्हें वसुधा से न मिला पाया।"

उसने उत्तर दिया, "कई मर्यादाएँ झूठी और खोखली होती हैं।" फिर नमस्ते करके वापस मुड़ गया।

उसके जाने के बाद बहुत देर तक मैं उलझन में पड़ा रहा। रह-रह कर मेरा ही वाक्य मुझ पर चोट करता था, 'छोड़ो, हमें एक-दूसरे पर अपने मत न थोपने चाहिए।'

कितना बड़ा झूठ बोल गया था मैं। इसलिए तो नहीं कि मैं हार रहा था? मन ने कहा,'हाँ, शायद इसीलिए।' परन्तु बाद में मन ने ही यह मान लेने से इन्कार कर दिया।

और वसुधा, मैंने सोचा, मैं तुम्हें आजाद कर दूँ तो?

तब शायद तुम चारों ओर तोड़-फोड़ कर डालोगी। तुम्हारी जिद में बड़ी ताकत है और ताकत हमेशा किसी के काबू में रहनी चाहिए।

तभी उस युवक ने मन की आँखों के सामने आकर जैसे इसका जवाब दिया, 'ताकत को काबू नहीं, सही रास्ता चाहिए। काबू से तो विस्फोट होता है। और जो वसुधा करेगी, वह तोड़-

फोड़ न होगी, नवनिर्माण होगा। पुरानी आँखें निर्माण को पहचान नहीं पातीं। यही उनकी सबसे बड़ी कमजोरी है।'

मैंने कोशिश करके इन विचारों को दूर किया और दूसरे दिन मेरा मन बिल्कुल ठीक था। मुझे खुशी थी कि मेरा पुराना विश्वास लौट आया था। उलझन की छाया भी अब न बची थी।

इधर मैंने तुममें एक नया परिवर्तन देखा। पहले तुम ऐसी नहीं थीं। धीमे से, शालीनता से बात करती थीं। तुम्हारी हँसी मधुर होती थी। लेकिन अब? अब बोलते समय तुम जैसे चिल्ला पड़ती हो। जोर-जोर से हँसती हो तुम। तुम्हारी आवाज पूरे मकान में गूँजा करती है। क्या एक कुलवधू को यह शोभा देता है?

अनशन तुम्हारे भीतर छुपे ज्वालामुखी का एक बड़ा विस्फोट था। उसे दबाकर मैंने सोचा, ज्वालामुखी सो गया। पर ये छोटी-छोटी बातें—सास को ब्राह्मणी बताना, खूब पार्टियाँ देना, जोर-जोर से हँसना, चिल्लाकर बातें करना—क्या इससे जाहिर नहीं होता कि ज्वालामुखी अभी शान्त नहीं हुआ? लगता है, भीतर-ही-भीतर वह धधक रहा है।

मैंने सोचा, और कड़ाई से पेश आना होगा। नए विस्फोट को रोकने के लिए अभी से कोशिश करनी होगी।

"अनिमेष," मैंने कहा, "पप्पू की माँ से मैंने कई बार कहलवाया, अब तुमसे कहना पड़ता है।"

वह चुप खड़ा रहा।

"तुम्हारी पत्नी की आवाज पुरुषों जैसी हो गई है। रसोई में बात करती है, मैं आफिस में सुन सकता हूँ। यह ठीक है?"

"जी नहीं।"

"कई बार आफिस में व्यापारी और दूसरे लोग भी बैठे होते हैं।"

"मैं उससे कहूँगा।"

"डाँटना।"

"जी।"

दूसरे दिन मुझे कलकत्ता जाना पड़ा। पता नहीं, मेरी बात का क्या असर हुआ। करीब एक माह के बाद लौटा।

रात को पप्पू की माँ से कहा, "कल सुबह नाश्ते में हलुवा बनाना। बड़ी इच्छा है।"

"जी।"

लेकिन दूसरे दिन हलुवा न बना था।

दोपहर को मैंने पूछा, "क्यों पप्पू की माँ, मेरा कहा भूल गई थीं क्या?"

"नहीं," उसने कहा,"लेकिन छोटी बहू के कारण न बना।"

"जब देखो छोटी बहू, छोटी बहू, आखिर उसकी हस्ती क्या है? क्या किया उसने?"

"बस, जिद पर अड़ गई, हलुवा नहीं बनेगा। हम लोग बनाने लगीं तो झम्म से चूल्हे में पानी डाल दिया। मैंने कहा कि पप्पू के बाबूजी के लिए बन रहा था तो कहने लगी, मुझे क्या मालूम था।"

"हूँ, फिर?"

"तब तक आपके आने का समय हो चुका था।"

"बहुत सिर चढ़ती जा रही है।"

"हाँ, जब से घर से लौटी है, बेहद जिद्दी हो गई है। छोटी-छोटी बातों पर अड़ जाती है।"

"तुम लोग उसे दबा कर रखो।"

"रखती तो हैं, पर दबे तब तो।"

"कैसे नहीं दबती। मिलकर दबाओ।"

मन-ही-मन मैंने कहा, 'वसुधा, मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ, तुम अपना स्वतन्त्र अस्तित्व चाहती हो। यह इतने बड़े कुटुम्ब में असम्भव है। इसी से तुम्हारे हर काम से विचित्रता टपकती है जिससे हर कोई तुम्हारी ओर ध्यान दे।'

व्यक्तित्व पाने की इतनी चाह तुम्हें क्यों है? व्यक्तित्व सबका होता है, पर पूरे संसार पर तो किसी एक का प्रभाव नहीं हो सकता। तुम्हें चाहिए कि अपने व्यक्तित्व का प्रभाव एक दायरे में रखो—कुछ विशेष लोगों पर रखो। पर तुम तो केवल अपना शासन चाहती हो। सारे घर में बस तुम ही तुम? यह असम्भव है। यह पागलपन है।

उस दिन तुम्हारे व्यक्तित्व का एक नया कोण मैंने देखा। एक संभ्रान्त महिला घर आई। मैं आफिस में था। वह भीतर आ गईं और पूछने लगीं, "क्या यही श्री ईश्वरचन्द्र दवे का मकान है?"

मैंने इससे पहले उन्हें कभी न देखा था। सोचा, शायद किसी संस्था के लिए चन्दा लेने आई होंगी। मैं चन्दा देना पसन्द करता हूँ, इसलिए उन्हें आदर के साथ बिठाया और कहा, "कहिए, मुझे ही ईश्वरचन्द्र कहते हैं।"

उन्होंने अपने बैग से एक पत्रिका निकाली और कहा, "आपके यहाँ कोई श्रीमती वसुधा रहती हैं न ? उनकी कविताएँ हम प्राय: हर अंक में प्रकाशित करती हैं। उनमें बड़ी विलक्षण प्रतिभा है। मैं इस पत्रिका की प्रतिनिधि हूँ। सम्पादिका ने कहा है कि मैं इस कवयित्री से मिलती आऊँ। आप उनसे मिलवा दें तो बड़ी कृपा हो।"

"नहीं, नहीं, कृपा की क्या बात है।" मैंने हँसकर कहा, "लेकिन वसुधा कवयित्री है, यह तो मैं भी नहीं जानता था। मैं उसका जेठ हूँ।"

कविता मैंने देखी, जोश से फड़कती। मानो दुनिया को पलट दोगी, अपने ढाँचे में ढाल लोगी।

नौकरानी को बुलाकर मैंने कहा, "इन्हें छोटी बीबीजी के पास ले जा।"

वह चली गई और मैं विचारों में डूब गया। तो तुम कविता भी करती हो। अनिमेष जरूर यह जानता होगा पर उसने कभी इस ओर इशारा भी नहीं किया। मैं मन-ही-मन तुम्हारी तारीफ किए बिना न रह सका। तुम्हारी कविता में एक पुकार थी—दुनिया में हलचल मचा देने की पुकार—एक आह्वान, एक आज्ञा।

जब वह महिला विदा ले चुकीं तो मैं भीतर आया। तुम्हें बुलाया। तुम्हारे पास केवल शिकायतें लेकर ही आने वाला मैं आज तुम्हारी तारीफ करने आया था। घूँघट निकाले तुम मेरे सामने खड़ी हो गईं।

बहुओं ने दरवाजों की आड़ ली। बच्चों ने निधड़क हमें पास

से घेर लिया। शायद सबने सोचा था, आज फिर छोटी बहू को डाँट पड़ेगी।

लेकिन मेरी मुसकराहट से सब चकित हो गए।

"तुम कविता करती हो, छोटी बहू ?"

तुम सिहरीं। यह सिहरन पुलक की थी। पुलक ! जिन लोगों के सामने हमेशा तुम्हारी हेठी की जाती थी, उन्हीं के सामने आज तुम्हारी तारीफ की जा रही थी। और तारीफ भी मेरे द्वारा।

तुम कुछ न बोलीं।

"कविता मुझे बहुत अच्छी लगी।"

मौका ही ऐसा था कि तुम्हें केवल सुनना था और मुझे केवल कहना था। वही हुआ। मैंने तुम्हारी तारीफ की, तुम सुनती रहीं। उस समय मैं सचमुच बड़ा खुश था तुम पर। उस क्षण तो मेरे मन में तुम्हारे लिए जो भी शिकायतें पल रही थीं, सब दूर हो गई थीं। मैं गर्व का अनुभव कर रहा था। मेरी छोटी बहू कवयित्री !

पर यह खुशी अधिक समय तक न टिक सकी। मेरी खुशी का तुमने फायदा उठाना चाहा।

कुछ ही दिन बीते थे कि पप्पू की माँ ने सूचना दी, "छोटी बहू ने फिर से घूँघट न निकालने की बात उठाई है।"

उस दिन से तुम मुझे मक्कार मालूम पड़ने लगीं। मक्कार नहीं तो क्या ? जाने कब से तुम मौका ताक कर बैठी थीं, आज बोल गईं। पर बहू, यह नहीं हो सकता। मैंने पहले ही कह दिया था, या घूँघट निकालो या मायके चली जाओ।

खुद
वसुधा
ने
कहा : मैं क्या हूँ ?

अच्छी तरह मैं खुद नहीं जानती। शायद अपने बारे में 'अच्छी तरह' कोई न जानता होगा। मैं अपने बारे में जो थोड़ा सा जानती हूँ वह यह कि मेरे अन्दर 'कुछ' है जो मुझे उड़ने को कहता है; कुछ उथल-पुथल करने की, कोई पराक्रम करने की प्रेरणा देता है। प्रेरणा ? नहीं, प्रेरणा शब्द कुछ हलका लगता है। मजबूर करता है, कहना ठीक होगा। हाँ, मजबूर ही तो। इस अन्दर छुपे 'कुछ' के आगे मैं लाचार हूँ, पूरी तरह लाचार हूँ। इस 'कुछ' की हर आज्ञा मुझे माननी है—माननी पड़ती है। मैं अपने बस में नहीं हूँ, उस 'कुछ' के बस में हूँ। 'कुछ'···

मुझमें यह 'कुछ' शायद जन्म से है। मेरी रगों में पता नहीं कौन सा खून है जो इतना गर्म है, कुछ कर गुजरने को इतना बेताब है। इस 'कुछ' में जाने क्या-क्या है पर एक कमजोरी भी है— विरोध नहीं सह सकता यह। बहुत शार्ट टेम्पर है इसका। जरा सी बात में यह उबल जाता है, खौल जाता है। यह 'कुछ,' लगता है मुझे, आतंकवादी है। हाँ, आतंक जमाना चाहता है यह, अपना सिक्का चलाना चाहता है।

आतंक किस पर ?

उन पर, जो आतंक स्वीकार नहीं करते। उन पर, जो केवल

लकीर पीटना जानते हैं, दकियानूसी हैं जो।

परंतु यह कमजोरी ही इसे हरा देती है—कमजोरी—जल्दी उबल पड़ने की कमजोरी। और हार···हार इसकी कमजोरी को और उभारती है। इस नए उभार का परिणाम? और गहरी हार···सिलसिला सा बंध जाता है, कोई अन्त नहीं। अन्धकार ही अन्धकार, एक खाई—भयावह खाई—जो गहरी और गहरी होती जाती है···नीचे···नीचे···उफ!

मेरे साथ यही हो रहा है। मेरे भीतर जो भी है—मुझे लगता है, वह अजीब है और अजीब के साथ अद्भुत और शायद अद्वितीय भी है—मानो चूर-चूर हो रहा है, बिखरने को बेताब है। हवा का झोंका आता है और इस टूटन का, इस चूर्ण का एक बड़ा हिस्सा—जो जीवित है, धड़क रहा है धक्···धक्···—उड़ जाता है। खो जाता है शून्य में···दीर्घ शून्य···

क्या यह 'कुछ' घमण्ड है?

ना···

जिद है?

ना···

मूर्खता?

ना···

पागलपन?

ना···

परंतु 'ना' केवल मेरी आँखों में। दूसरों की आँखों में यह वही है जो मेरी आँखों में नहीं है—मूर्खता, जिद, पागलपन, घमण्ड!

ये दूसरे कौन हैं ? वे, जो इस 'कुछ' का महत्व नहीं समझते, जो उसे स्वीकार नहीं कर पाते, जो बहुत संकुचित हैं, जिनके मन के द्वार बन्द हैं, दिमागी लेन-देन खा गए हैं जो, जो मेढ़क की तरह कुएँ को ही दुनिया माने बैठे हैं—बाहर आने, देखने, सोचने, मानने को तैयार नहीं जो !

उस दिन निशा मेरे पास आई। बोली, "भाभी, यह पुस्तक तुम्हारी आलमारी में से निकली।"

मैंने देखा, वह पुस्तक विवाह और तलाक के बारे में थी।

मैं मुसकराई। पूछा, "पढ़ ली ?"

"हाँ, लेकिन···"

"कठोर लगा ?"

"हाँ।"

"क्यों ?"

"क्योंकि यह तुम्हारी आलमारी में से निकली।"

"तो क्या हुआ ?"

"मान लो—हालाँकि मैं सोच भी नहीं सकती—तुम तलाक लेती हो, तो सोचो घर की इज्जत को कितना बड़ा···"

"ऐसी इज्जत झूठी है। परंतु तुमने सोच कैसे लिया कि मैं तलाक लूँगी ?"

"मान लो।"

"जो होने का नहीं, उसे मान कर काँपते रहने का क्या मतलब है निशा ?"

"फिर यह पुस्तक ?"

"तलाक के कानून का ज्ञान रखना अपराध नहीं है, बल्कि

वह आवश्यक है। निशा, मुझे आश्चर्य होता है, तुम कालेज की छात्रा होकर भी इतनी संकुचित विचारधारा की क्यों हो ?"

"मैं संकुचित विचारधारा की नहीं हूँ भाभी, पुस्तक मैंने भी पढ़ी है। कोई शक नहीं कि यह बहुत उपयोगी है। पर जाने क्यों, मन को झटका लगा।"

"बहुत कठोर लगा ?"

"हाँ, बहुत..."

"अच्छा, जैसा कि अभी तुम कह रही थीं—मान लो, मैं तलाक लेती हूँ..."

"ओह, मत मानो भाभी।"

"बड़ी पलायनवादी हो तुम। परंतु सोचो, अगर तलाक लूँगी तो उसके पीछे कोई बड़ा कारण तो होगा ?"

वह मेरी ओर देखती रही।

"डर गई ? मत डरो। तुममें साहस क्यों नहीं है ? तुममें नया खून, नया उत्साह क्यों नहीं है ?"

वह देखती रही मेरी ओर। फिर कहा, "है।" और चली गई।

उसके जाने के बाद मैं सोचती रही, 'है ? यदि है, तो दबा हुआ। इस बारूद को चिनगारी चाहिए, तब विस्फोट होगा...'

लेकिन चिनगारी ? कहाँ है वह ?

जब तक वह नहीं, बारूद मिट्टी है। अचानक मैं उत्साह से भर गई। लगा, क्यों न वह चिनगारी मैं दूँ ? क्यों न मैं खुद एक चिनगारी बन जाऊँ ?

अनिमेष ने वह पुस्तक देखी। उसने भी उत्साह न दिखाया।

शायद उसे भी कठोर लगा।

अनिमेष में वह 'कुछ' नहीं है जो मुझमें है, जो मैं चाहती हूँ, हर युवक-युवती में हो और भरपूर हो—उलट-पुलट कर देने की ताकत, कुछ का कुछ कर डालने का साहस···

अनिमेष···

ओह, बहुत सीधा है वह। मैंने अनिमेष से विवाह क्यों किया —मैं अच्छी तरह जानती हूँ। वह पढ़ाई के मामले में मुझसे पीछे है। बी० ए० का थर्ड डिवीजन इसका सबूत है। वह चंचल नहीं है, हर किसी से दबता रहता है। घर में सबसे छोटा, सबसे सीधा—सबके शासन के नीचे। इतना सीधा पति मुझे नहीं चाहिए था। पति में इतना टेढ़ापन मैंने जरूर चाहा था कि वह मेरी आज्ञाएँ मानने के लिए दूसरों का विरोध तो कर सके। अनिमेष न मेरा विरोध करता है, न दूसरों का।

मैंने विवाह से पहले कुछ अलग ही खाका खींचा था। अनिमेष···सीधा-सादा युवक! चेहरा देखकर ही मुझे लगा था, मेरे सामने मेमना बनकर रहेगा। उस दिन निशा से विवाद करते समय मैंने साफ कहा था कि मैं शादी करूँगी तो पुरुष जाति से बदला लेने के लिए। पुरुष ने आदि काल से नारी को अपने वश में रखा है। मैं विद्रोह करूँगी। मैं पति को अपने वश में रखूँगी—पूरी तरह।

अनिमेष को देखकर, उसके बारे में पूछ-ताछ कर, स्वयं उससे बातचीत कर, उसके विचार जानकर मुझे लगा था, ऐसा ही पति मुझे चाहिए। यह मेरी हर बात आँखों पर लेगा। मैंने सोचा था, सबसे छोटा होने के कारण यह घर में सबका

लाड़ला होगा, सब इसकी बात रखते होंगे। दूसरे शब्दों में, अनिमेष पर राज्य करके मैं पूरे कुटुम्ब पर राज्य करूँगी। मेरे अन्दर छुपे 'कुछ' की अदम्य इच्छा···एकमात्र इच्छा !

परन्तु अनिमेष ठीक विपरीत है। वह सबका लाड़ला है अवश्य लेकिन लाड़ला होने के पहले शासित है। शायद वह इसीलिए लाड़ला है कि शासित है। वह शासन के विरुद्ध बगावत कर दे तो लाड़ला न रह जाएगा। शादी से पहले जिससे भी मैंने पूछा, उसने यही कहा, "अनिमेष का अपने घर में बहुत मान है। भाई-भाभियाँ उसे बेहद चाहते हैं।"

बस, यहीं धोखा खा गई मैं। भाई-भाभियाँ उसे चाहते अवश्य हैं पर पहले उस पर शासन करते हैं। और उस पर शासन का मतलब है मुझ पर भी शासन···मुझ पर !

बड़ी बहू सौदामिनी ने मुझे कई बार टोका है, "देवरानी, देवरजी का नाम मत लिया करो। तुम्हारे जेठजी को पता चलेगा तो···"

पर क्यों न लूँ नाम ? अपने प्रियतम का नाम न लूँ ? आखिर क्यों ? मैं तो लेती हूँ और सबके सामने लेती हूँ। कोई चाहे बेहया कह दे···

प्रियतम···सचमुच अनिमेष मेरा प्रियतम है।

पुरुष जाति से बदला लेने की मेरी पाशवी इच्छा अब शान्त हो गई है। निशा ने ठीक कहा था उस दिन, किसी एक को हरा कर, झुका कर क्या पुरुषों की पूरी जाति से बदला लिया जा सकता है ? अनिमेष को झुकाने की कोई चाह नहीं है मन में। वह तो खुद ही झुका हुआ है, क्या झुकाना उसे। और इतने दिन

के साथ के बाद मैं उससे प्रेम करने लगी हूँ। हाँ, प्रेम। हो सकता है, इसमें सहानुभूति अधिक हो, लेकिन है यह प्रेम। मैं इसके बन्धन में बँध चुकी हूँ।

अनशन के बाद मेरी कमजोरी बहुत बढ़ गई है। अनिमेष टॉनिक लाता है पर दवा क्या असर करेगी जब मन में उथल-पुथल मची हो। मेरा शरीर छीजता जा रहा है। शुरू-शुरू में ससुराल के हर व्यक्ति ने मुझे प्रेम दिया था—बच्चों से लेकर बूढ़ों तक। और अब ठीक उलटी बात है। सबकी आँखें मुझी पर टेढ़ी हैं—केवल निशा और अनिमेष को छोड़कर।

मैं बहुत ज्यादा जिद्दी हो गई हूँ। और उलझन यह कि जिद ही जिद में मैं नहीं मानती कि मैं जिद्दी हूँ। छोटी-छोटी बातों पर मैं अड़ जाती हूँ। नहीं जानती, क्यों। बच्चे भी ऐसा न करते होंगे। घूँघट में मेरा दम घुटता है। उसे फेंक देने की मेरी हर कोशिश असफल रही है। अनशन से ज्यादा मैं और क्या कर सकती हूँ? घर में खुलकर हँस नहीं सकती, बात नहीं कर सकती। सारा दिन फुसफुसाहट में बिताना असम्भव है मेरे लिए—जिसने चिल्ला-चिल्ला कर आज्ञाएँ दी हैं। हर चीज मेरी आदतों के खिलाफ है। हर चीज जैसे मुझसे कह रही है, मुझे बदल डालो, अपने अनुसार ढाल डालो। परन्तु कोई मुझे सहयोग दे तब तो।

सहयोग न दे कोई, न सही। मुझमें इतना दम है कि मैं अकेली ही कुछ का कुछ कर सकती हूँ। बाधाएँ भी भले सब डालें। बाधाओं को हल करने में एक मजा है। लेकिन इतनी निर्दयता? घूँघट निकालो या चली जाओ मायके।

मायके लौट जाऊँगी तो बदलूँगी किसे ?

और क्यों जाऊँ अपने अनिमेष को छोड़कर ? अब मैं उसे चाहने लगी हूँ। लगता है, मैं उसके सिर पर छाया कर रही हूँ, जिसके बिना वह भटक जाएगा, बुरी तरह दब जाएगा··· नहीं, वह मेरा है। मैं ऐसा न होने दूँगी। मैं उसमें शक्ति भर रही हूँ···कभी-न-कभी वह विद्रोह करेगा। मुझे पूरा विश्वास है।

इतना कुछ अपने बारे में जानने पर भी जैसे मैं कुछ नहीं जानती। मेरे भीतर एक गुत्थी है, जो इन विरोधों और तने हुए वातावरण से और उलझती जा रही है···मैं उसे नहीं सुलझा सकती, मैं स्वयं उसमें उलझ गई हूँ। और जब मैं ही नहीं सुलझा सकती, औरों की क्या बात है।

मैं समझ नहीं पाती, निशा इतनी अच्छी है फिर भी मैं उसके साथ मीठी क्यों नहीं हूँ ? क्यों मैं चाह कर भी कालेज के दिनों की कटुता दूर नहीं कर पाती ? वह तो हृदय खोलकर बैठी है, मैं ही क्यों कटती हूँ उससे ? क्यों मैं न चाह कर भी उसकी शिकायतें अनिमेष से कर बैठती हूँ ? क्यों उससे झगड़ना चाहती हूँ ? मैं अच्छी तरह जानती हूँ, इस तरह मेरी इज्जत घट रही है। जिद्दी होने के कारण मैं कई बार हास्यास्पद परिस्थितियों में फँस जाती हूँ। सब समझती हूँ मैं और समझते हुए भी नादानी करती हूँ। इसी से तो कहती हूँ, मैं खुद नहीं जानती, मैं क्या हूँ।

और एक दिन···

मुझे नहीं मालूम था, क्या करने जा रही हूँ मैं, पर उस दिन मैं सोई तो मुझे लगा कि मेरी कल जरूर बहुत अच्छी होगी। मुझे खुश देखकर अनिमेष ने कारण पूछा भी, पर मैं

नहीं जानती थी, मैं क्यों खुश हूँ। पसलियों में अजीब सा लग रहा था मुझे। जैसे मैंने कोई बहुत महत्वपूर्ण बात तय की हो। जैसे मैं नई ज़िन्दगी शुरू करने जा रही होऊँ।

दूसरे दिन मैं बहुत देर से उठी। मुझे खुद इस पर आश्चर्य हुआ। इस घर में बच्चों से लेकर बूढ़ों तक सभी जल्दी उठ जाते हैं। देर से उठना यहाँ आश्चर्य की बात है। बुरा भी समझा जाता है। विशेषकर स्त्रियों को तो जल्दी उठकर चूल्हा सम्हाल लेना पड़ता है। यदि ऐसा न किया जाए तो घर का काम कभी समाप्त ही न हो। कई बार मैंने कुढ़न महसूस की है कि और नौकर क्यों नहीं रखे जाते। जेठजी का तर्क है कि काम करने से स्त्रियों का स्वास्थ्य ठीक रहता है, लेकिन औकात से ज्यादा काम करना भी नुकसान करता है यह कौन समझाए उन्हें।

मैं देर से उठी, पर किसी ने मेरी ओर ध्यान न दिया। यह कुटुम्ब इतना बड़ा है कि यहाँ से कुछ घण्टों के लिए किसी को गायब कर दिया जाए तो पता भी न चले।

मोरी के पास जाकर मैं दातून करने लगी। उधर किसी का आना-जाना नहीं था। मैं सोचने लगी, किस तरह मैं किसी का ध्यान आकर्षित करूँ। मैं चाहती थी, कोई आकर मुझे डाँटे, ताकि लोगों को पता चले कि मैं भी इसी घर में रहती हूँ।

बहुत देर तक मैं दातून करती रही, पर जब कोई उधर न आया, तो मैं ही जाने किस मूड में दातून मुँह में लिए-लिए घर में घुस पड़ी।

सामने से सौदामिनी बहू आती दीख पड़ीं। मैं बहुत गम्भीर अपराध कर रही थी, पर मेरे मन में भय की बजाय उत्तेजक

सनसनी थी। साथ ही प्रसन्नता भी थी—अब मुझे डाँट पड़ेगी और सब जान जाएँगे, छोटी बहू में कितना साहस है। सबकी जबान पर मेरा ही नाम होगा!

सौदामिनी बहू ने मेरी ओर आश्चर्य से देखा और कहा, "अरे वसू, यह क्या?"

मैं कुछ न बोली। मैं उनकी डाँट सुनना चाहती थी। मेरी चुप्पी से उन्हें क्रोध आ गया। बरस पड़ीं—मैं यही चाहती थी। थोड़ी ही देर में सारे घर में बात फैल गई—छोटी बहू आज आठ बजे उठी है।

मैं नहाई और कमरे में चली गई। जिधर से मैं निकलती, सभी मेरी ओर देखते। मेरी कोई अदम्य इच्छा पूरी हो रही थी। आज कितने दिनों बाद मैं सबके आकर्षण का केन्द्र बनी थी! हाँ, कितने दिनों बाद!

अनिमेष शिकायत लेकर आया, मैंने ध्यान ही न दिया। वह बोलता गया, मैंने कुछ न सुना। मैं अपने में मगन थी, अपने में खुश।

उस दिन सोचा मैंने, 'क्या यही मेरी नई जिन्दगी है?'

मैं उलझ गई। मैं स्वतन्त्र व्यक्तित्व चाहती थी। मैं इस कुटुम्ब में बिल्कुल खो गई थी। अब मैं सागर में बूँद सी—इस तरह अपना व्यक्तित्व खोज रही थी। यह नादानी नहीं तो क्या थी?

नादानी मैं समझती न होऊँ, सो नहीं, पर मैं न चाह कर भी चाह कर यह सब कर जाती और बाद में आश्चर्य करती रहती। मैं प्रायः ही देर से उठती और सबके आकर्षण का केन्द्र

बनी रहती। सभी मुझे घृणा से देखते, लेकिन मुझे परवाह नहीं थी। जो मैं चाहती थी, हो रहा था। स्वतन्त्र व्यक्तित्व मुझे मिल रहा था। बस, इससे अधिक मुझे सरोकार न था।

बात पहुँची जेठजी के पास। उनके क्रोध की सीमा न रही। सौदामिनी बहू के द्वारा उन्होंने कहलवाया, "कायदे से रहो या चली जाओ मायके।"

एकदम से इतनी बड़ी बात! मैं डरी। सोचा, जरूरत से ज्यादा नादानी हुई जा रही है। दूसरे दिन से मैं जल्दी उठने लगी।

कुटुम्ब बड़ा है तो लेन-देन भी बड़ा है। प्रायः ही कोई-न-कोई मेहमान आया होता है। घर में इतने सारे लोग, ऊपर से मेहमान। याने घर सराय हो जाता है। लगता है, इस सराय की मैं एक मुसाफिर हूँ। एक मुसाफिर दूसरे मुसाफिर के लिए ममता रखता है पर यह तो विचित्र सराय है। यहाँ कोई किसी की ओर ध्यान नहीं देता। किसी को किसी की परवाह नहीं है। मैंने कई बार देखा है, छोटे बच्चे पाखाना करके आते हैं और उनकी सफाई नहीं होती। नौकरानी देखती है तो धो देती है वरना वे वैसे ही घूमते रहते हैं। घर का काम इतना होता है कि उनकी माँओं को पता ही नहीं होता—उनका बच्चा कहाँ है, क्या कर रहा है। जब तक बच्चा रोता नहीं, बच्चा कहीं नहीं होता। ऐसे वातावरण से मुझे सख्त नफरत है। मैंने कितनी बार नौकरों को समझाया, जेठानियों को समझाया, पर अब मेरी इज्जत नहीं रही। असफल अनशन करने के बाद कोई मेरी बात पर ध्यान देता ही नहीं है।

ससुराल आई थी तो मेरे भीतर आग धधक रही थी, मैं झुलसी जा रही थी। मैंने सोचा था, मैं घर में सबसे ज्यादा काम करूँगी। सब मेरी तारीफ करेंगे। चारों ओर यही सुनाई देगा—छोटी बहू, छोटी बहू!

मैंने काम करना शुरू किया, लेकिन किसी को मेरी ओर ध्यान देने की फुरसत न थी। मैं थक कर चूर हो जाती, रात को थकान के मारे सो न पाती और कोई न पूछता, आज सबसे ज्यादा काम किसने किया।

एक दिन मैंने जान-बूझकर काम न किया। मैंने सोचा था, अब मेरे नाम की पुकार मचेगी, लेकिन···हाँ, सचमुच किसी को मेरी अनुपस्थिति का पता तक न था। मैंने देखा, मेरे काम न करने पर भी काम होता जा रहा है। किसी को मेरी जरूरत नहीं है। मैं कितनी क्षुद्र थी इस कुटुम्ब में! मैं आश्चर्य, आतंक और भय में डूब गई।

एक माह और बीता और फिर से मेरी वही सनक उभर आई—मैं सबका ध्यान आकर्षित करने के लिए बेताब होने लगी। मैं चाहती थी, सभी केवल मुझे देखें—केवल मेरी ओर! किसी महत्वहीन, क्षुद्र, गन्दे कीड़े की तरह जीना भी कोई जीना है? मैंने सबकी तारीफ पानी चाही थी। वह न मिली तो मैं नादानी पर उतर आई, गलत तरीकों से सबका ध्यान खींचने की कोशिश करने लगी। और मैंने देखा, यह कहीं ज्यादा सरल है! मेरे मन में एक गाँठ पड़ रही थी···

एक दिन मैंने बीमार होने का ढोंग किया।

हाँ, ढोंग। मैं बीमार नहीं थी।

मुझे क्या मालूम था, आज मै जिस ढोंग का आसरा ले रही [illegible]ी ढोंग की कल मुझे आदत पड़ जाएगी और एक दिन मै पागल [illegible] का ढोंग [illegible]ी ।

उस दिन [illegible] कमरे से बाहर न निकली। इस कुटुम्ब मे कमरे से न निकलना ही काफी नही था। मै धीमे-धीमे कराहने लगी ।

मै बिस्तर पर ग्रस्त-व्यस्त पड़ी थी । अनिमेष आकर पूछने लगा, "क्या हुआ ?"

"उफ, पेट मे भयकर दर्द है !"

निशा आकर मेरे पास बैठ गई, उसका बैठना मुझे अच्छा न लगा । उसे देखकर मुझे भय लगता था, मानो वह मेरा कोई गहरा भेद जानती हो; लेकिन मै कुछ न बोली ।

बडी बहू सौदामिनी आई । उन्होने भी सहानुभूति से पूछा, "क्या बात है ? अचानक कैसे दर्द उठा ? कुछ ऊटपटांग तो खाया नही न ?"

मैने मन-ही-मन अपार सन्तोष का अनुभव करते हुए कहा, "कुछ भी तो नही खाया दीदी, पर जाने कैसे इतना दर्द उठा है ।" और मै दुहरी होने लगी ।

"ठहरो, मैं दवा बनाकर लाती हूँ ।" उन्होने कहा और चली गई ।

सबकी सहानुभूति, जो मै खो चुकी थी, अचानक मेरे साथ हो गई । मैंने सोचा, इस बीमारी को जितना बढाया जा सके, बढ़ाना चाहिए ।

सौदामिनी बहू को अपने घरेलू उपायो पर बड़ा नाज है । कोई भी बीमारी हो, उनके पास दवा होगी ही । जाने कहाँ-कहाँ

से वह सीख कर आई हैं परन्तु उनकी दवा ने मेरा दर्द और बढ़ा दिया।

उन्होंने मुझे दूसरी दवा दी। मैं और जोर-जोर से कराहने लगी तो उनका आश्चर्य बढ़ा। मुझे डर तो जरूर लग रहा था, कहीं मेरी चाल वह समझ न जाएँ…

सोच भी कौन सकता था कि यह बीमारी नहीं, केवल ढोंग है। लेकिन…लेकिन निशा की ये रहस्यमयी आँखें…क्या वह जान गई? मैं मन-ही-मन काँपी…

मेरा पेट-दर्द ठीक करने के सारे उपाय बेकार गए।

उसी समय जेठजी घर में आए। सौदामिनी को अपने घरेलू उपायों पर जितनी श्रद्धा है, उतनी ही जेठजी को उनसे चिढ़ है। आते ही उन्हें खबर दी गई तो उन्होंने व्यंग्य से सौदामिनी की ओर देखा और कहा, "तुमने अपने उपाय आजमाए होंगे?"

चुप रह गई सौदामिनी बहू।

"जाओ! इस घर में सब बेवकूफ भरे हैं!" जेठजी चीखे, "जाओ, डाक्टर को बुलाओ…"

फोन किया गया। आह, मेरा सन्तोष! मैं चीख रही थी, दर्द से मरी जा रही थी।

डाक्टर आया, गम्भीर चेहरा लिए। मेरी जाँच की और कहा, "इस बीमारी के केस बहुत कम आते हैं। मेरे पास अभी तो इसकी दवा नहीं है लेकिन मैं प्रबन्ध कर दूँगा। आप फिक्र न करें।"

फिक्र! वाह! दवा मेरे पास नहीं है! खूब!

डाक्टर चला गया। मेरी बीमारी 'साधारण' नहीं थी—

सभी मुझे 'देखने' आने लगे। हालाँकि मेरे चेहरे पर कोई परिवर्तन न हुआ था, फिर भी मेरी ओर सब आँखें फाड़-फाड़कर देखते और मैं आनन्द में डूब-डूब जाती।

कई दिनों तक मैं 'बीमार' पड़ी रही। सभी को आश्चर्य हो रहा था कि पेट-दर्द भी इतने दिनों तक चल सकता है। हाँ, आश्चर्य उस डाक्टर को नहीं था। वह तो कहता था, ऐसा इस बीमारी में होता ही है! मैं मन-ही-मन उस पर हँसती।

दिन भर कोई खाट में पड़ा रहे, तो दुबला हो ही जाएगा। मेरी विचित्र बीमारी की बात अब घर के बाहर भी फैल गई थी। लोग बाहर से भी मुझे देखने आने लगे थे। मैं उन सबकी चर्चा का विषय थी और इसका आनन्द कितना अवर्णनीय था, मैं ही जानती थी।'

परन्तु एक दिन मेरी जान सूख गई और मेरा डर बहुत बढ़ गया जब निशा मेरे कमरे में आई और बोली, "भाभी, अब बस कीजिए। बहुत दिन हो चुके। पूरा घर परेशान है। डाक्टर पैसा खा रहा है, अनिमेष अलग दुबला हो रहा है। अनिमेष की तो फिक्र करो। वह आधा भी नहीं रहा। क्या मैं आशा करूँ, कल से तुम अच्छी हो जाओगी?"

मैंने भौंचक होकर निशा की ओर देखा। यह लड़की खतरनाक है। इतने दिनों तक वह यह रहस्य छुपा कर बैठी थी। मैं समझ न सकी कि जब वह जानती ही थी, तो क्यों इतने दिनों तक चुप रही? क्या उसे मुझसे इतनी गहरी सहानुभूति···

मेरी जबान खुली। मेरी सारी इज्जत इस समय इस लड़की

के हाथ थी। मैंने दयनीय होकर उसकी ओर देखा, मानो भीख माँग रही होऊँ। उसने आँखों की भाषा पढ़ी और कहा, "डरो नहीं भाभी, मैं किसी को न बताऊँगी। मुझे तुमसे सहानुभूति है, दुश्मनी नहीं। तो कल से तुम अच्छी हो रही हो ?"

"हाँ।" थूक निगलते हुए मैंने कहा।

वह चली गई और मैंने दाँत भींचे।

दूसरे दिन मैं अच्छी हो गई। डाक्टर को इस बार भी आश्चर्य न हुआ। उसने नीले चश्मे की ओट से मेरी ओर देखा, फिर विश्वास से कहा, "अब तुम कभी बीमार न पड़ोगी, क्या समझीं ? मेरी दवा का असर परमानेंट होता है।"

"हाँ।" मैंने मन में हँसते हुए कहा, "आपने ही मुझे बचा लिया।"

फिर मेरी हिम्मत न हुई, मैं फिर से उसी बीमारी का ढोंग करूँ। उस दिन से मैं निशा से और कटी-कटी रहने लगी। उससे मेरा कोई बैर न था फिर भी मैं उसका एक भी काम ऐसा न पाती थी, जिसमें कोई भूल न हो। कालेज के दिनों की कटुता अभी तक इस रूप में बाकी थी। यह मेरे जिद्दी होने के कारण ही था। मैं चाहती थी, वह मुझसे चिढ़े, खूब चिढ़े। मैं मन-ही-मन जानती थी, निशा अच्छी है, लेकिन···लेकिन···

कुछ माह बीते और फिर मेरी हालत दयनीय हो गई। उस दिन मैंने निशा को अपने पास बुलाया और कहा, "देखो, निशा, मैं फिर से अपना महत्व खोने लगी हूँ। मैं उसके बिना नहीं जी सकती। व्यक्तित्व ही मेरा जीवन है। वह मुझे फिर से छीनना ही होगा। तुम हाँ कह दो, मैं फिर से बीमारी का ढोंग करना

चाहती हूँ ।"

मेरी आँखों की पीड़ा उसने देखी । उसकी आँखों में आश्चर्य था । उसने कहा, "भाभी, तुम बिल्कुल गलत राह जा रही हो। मेरी हाँ की जरूरत ही क्या है ? पर देखो, कहे देती हूँ, इस बार तुम्हें जल्दी अच्छी हो जाना चाहिए ।"

मैंने उसे बाँहों में भर कर चूम लिया । दूसरे की भावनाएँ वह कितनी अच्छी तरह समझ सकती है, इसका पता मुझे उस दिन चला । मैंने तय कर लिया, अब कभी किसी से उसकी बुराई नहीं करूँगी । उस दिन से मैं उसकी दोस्त हो गई—बिल्कुल वैसी ही दोस्त, जैसी कालेज में शुरू के दिनों में थी ।

और फिर तो मैंने उसकी इतनी मदद की कि कभी वह एह-सान न भूल सकेगी ।

फिर से मैंने उसी बीमारी का ढोंग किया । बिजली की तरह सारे घर में बात फैल गई कि बहू को फिर से वही बीमारी हो गई है । डाक्टर आया । मैं इस बार थोड़े ही दिनों में अच्छी हो गई । कई दिनों तक घर में इसकी चर्चा रही । निशा मेरी ओर रहस्यमय निगाहों से देख लिया करती···

एक कवयित्री की तरह मैं काफी प्रसिद्ध हो चुकी थी । जेठजी को भी इससे बड़ी प्रसन्नता थी । और जब 'महिला विकास संघ' की ओर से मुझे सदस्यता का आमन्त्रण मिला तो मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया । अब मैं प्रायः उसकी सभाओं में जाती । मैंने सोचा था, जेठजी विरोध करेंगे पर उन्होंने जाने क्यों, कुछ न कहा । मेरा साहस बढ़ा ।

विकास संघ की ओर से किसी पुस्तकालय की सहायता के लिए एक नाटक खेला जाना था। सौंदर्य के कारण मुझ पर नायिका का रोल करने के लिए दबाव डाला गया। मैंने सौदामिनी बहू के जरिए जेठजी से नाटक में भाग लेने की अनुमति माँगी। मुझे आशा थी, वह मना नहीं करेंगे। इन दिनों वह मुझसे बहुत खुश थे। परंतु उन्होंने साफ कह दिया, "हमारे घर की बहू रंगमंच पर कैसे उतर सकती है? घर में तो घूँघट निकालती है, मंच पर नंगा चेहरा लेकर नाचेगी?"

यह करारा व्यंग्य!

मैं चोट खा गई। मेरा स्वाभिमान जाग उठा। मैंने ठान ली कि मैं नाटक में भाग लेकर रहूँगी। चुपके-चुपके मैं पाठ याद करने लगी, रिहर्सल में जाने लगी। जो होगा, देखा जाएगा।

नाटक का दिन करीब आता गया और मेरी उत्तेजना व धड़कन बढ़ती गई। क्या होगा, क्या न होगा, मैं कुछ नहीं जानती थी। कालेज में मैंने कई बार नाटक में भाग लिया था पर इतनी उत्तेजना मैंने कभी अनुभव न की थी।

नाटक का दिन।

नाटक देखने के लिए निशा आई थी; निक्की, पप्पू, तरुण, मंजू, शशि सभी आए थे। मैंने उन्हें भीतर बिठाया और कहा—"मैं संचालिका से मिलकर अभी आती हूँ। जरा काम है।"

और मैं अपनी पोशाक पहनने भीतर चली गई। उन्होंने मेरा इन्तजार किया होगा पर मैं क्यों वापस लौटने चली। मुझे तो नाटक में अपना रोल अदा करना था।

मैं मंच पर आई···

मैंने उन लोगों की ओर देखा। मुझे देखते ही उन्हें कितना आश्चर्य हुआ होगा, इसकी कल्पना करके मैं खुश हो रही थी। मैंने देखा, पप्पू उठा और मेरी ओर रूमाल हिलाने लगा।

मैं घर लौटी तो मन-ही-मन थरथरा रही थी। अब जेठजी का सामना करना था मुझे।

मुझे देखते ही वह दहाड़ उठे। मैंने सोचा भी न था, उनके गले में इतनी आवाज भरी हो सकती है। क्रोध से वह काँप रहे थे। चारों ओर भीड़ लग गई थी और सबके सामने मैं बिना घूँघट काढ़े साहस के साथ खड़ी थी। मैंने विद्रोह कर दिया था। नहीं, अब मुझसे घूँघट में न रहा जा सकेगा, चाहे जो हो जाए।

"किससे पूछ कर भाग लिया ?"

मैंने चुप रहना ठीक समझा।

"अपने को वेश्या समझती हो ?"

अब मुझसे न रहा गया। तमतमा कर कहा, "आप बुजुर्ग हैं, लेकिन बात समझकर कहनी चाहिए। यदि मैं वेश्या हूँ तो आपके छोटे भाई क्या हुए ?"

मौत का सा सन्नाटा छा गया। उनकी आँखों में खून आ गया। मुट्ठियाँ बंध गईं और दाँत बजने लगे।

अनिमेष को बुलाया गया। नाटक में भाग लेने की बात मैंने उससे भी छुपाई थी। मैं उसे भी एकदम चकित कर देना चाहती थी।

"भैया," आते ही उसने कहा, "मुझे कुछ नहीं मालूम।" पर किसीने विश्वास न किया। किया ही कैसे जा सकता था।

जेठजी ने कहा, "तुमने ही इसे सिर पर चढ़ा रखा है। मेरे रहते इसकी यह मजाल ?"

अनिमेष की आँखें छलछला आईं।

भैया ने उसके हाथ में छड़ी दी और कहा, "ले, मार इस हरामजादी को।"

हरामजादी !

मेरा खून खौल गया। बड़ी मुश्किल से अपने को सम्हाला। अनिमेष की ओर देखा तो वह लाल हो गया था, काँप रहा था···

मैं सिहरी। कहीं अनिमेष हाथ चला बैठा तो ? जिस बड़े भाई से वह बचपन से दबता आया है, उसकी बात न मानने का साहस वह कर सकेगा ? यह मेरा कितना बड़ा अपमान होगा। भीड़ में नौकर-चाकर भी थे। उनके सामने मेरा पति मुझे मारे !

एक क्षण···दो क्षण···

अनिमेष चुप खड़ा रहा···

"अनिमेष !" जेठजी चीखे।

"नहीं भैया, यह मैं नहीं कर सकता। इसका कोई कसूर नहीं। अब जमाना बदल चुका है।"

मैं विश्वास ही न कर पाई, यह अनिमेष की आवाज है।

"बदमाश ! मंच पर जोरू नचवाता है और कहता है इसका कसूर नहीं ? पापी ! हरामी !" जेठजी की जबान ने विवेक खो दिया। मैं आगे के शब्द न सुन सकी। सुनने की शक्ति जैसे गायब हो गई···

तड़ाक !

मैंने चौंक कर ऊपर देखा। उन्होंने अनिमेष को तमाचा मारा था, इतने लोगों के सामने। एक के बाद दूसरा तमाचा वह मारने ही वाले थे कि मैं उठी। अब मुझे लाज-शरम कोई न रोक सकता था। सभी मूर्तियों की तरह खड़े थे। किसी में बोलने तक का साहस न था, पर मैंने आगे बढ़कर जेठजी का उठा हुआ हाथ पकड़ लिया। मैं रणचण्डी हो गई थी। जेठजी में मुझसे हजार गुनी ताकत होगी मगर मुझे इस तरह उघड़े मुँह अपने को छूते देख वह मूढ़ हो गए। अनिमेष का हाथ उनसे छूट गया। मैं किसी की परवाह किए बिना अनिमेष का हाथ पकड़कर उसे अपने कमरे की ओर खींच ले गई। मैं जानती थी, मेरी इस बेशर्मी पर लोग थू-थू करेंगे, पर मुझे उस पर हद से ज्यादा प्यार और दया आ रही थी। सबके सामने वह कितनी बेरहमी से जलील किया जा रहा था—मेरे कारण।

अनिमेष ने अपना हाथ छुड़ाने की कोशिश की पर न छुड़ा सका। मानो जादू से प्रभावित हो यों मेरे साथ वह खिंचता चला आया। मैंने कमरे में जाकर दरवाजा बन्द कर लिया और उसे अपनी बाँहों में भर लिया। उस समय वह मुझे किसी मासूम बच्चे सा मालूम पड़ रहा था। मानो मैं उस समय उसकी माँ थी और उसको मुसीबतों से बचाना मेरा फर्ज था। वह भी मेरे आँचल में मुँह छिपाकर रोने लगा। मैंने उसे अपने से और चिपटा लिया···आह! कितना भोला, कितना मासूम, कितना सीधा!

आज इसने विद्रोह किया है!

बाहर से जेठजी की गालियों की आवाज आ रही थी।

अनिमेष को उन्होंने जोरू के गुलाम की उपाधि दे दी थी। वह बार-बार भीड़ को छँटने के लिए कह रहे थे, पर भीड़ आज उनकी भी न सुन रही थी।

दूसरे दिन विद्रोही अनिमेष जेठजी के पास पहुँचा और बोला, "भैया, मेरा कोई अपराध नहीं था फिर भी आपने मुझे मारा, यह अच्छा नहीं किया। आपने अकेले में चाहे जो किया होता, परन्तु सब के सामने मैं कहीं का न रहा। मुझे इससे बड़ी चोट पहुँची है।"

"तुम क्या चाहते हो ?"

"भैया, आप मुझे गलत न समझें। आपकी छत्रछाया तो मुझपर हमेशा रहेगी पर···पर··· मैं अब इस घर में नहीं रह सकता। मैं जिधर भी निकलता हूँ, मुझपर लोग मुसकराते हैं। मैं अलग होना चाहता हूँ।"

"क्या ?" जेठजी दहाड़ उठे, "यह नहीं हो सकता। तू जोरू को तो सम्हाल नहीं सकता और उसके लिए कुटुम्ब छोड़ना चाहता है ! शरम नहीं आती तुझे ऐसा कहते ?"

"वह तो कहती है कि अलग नहीं होना चाहिए पर मैं ही अब साथ न रह पाऊँगा। भैया, मैं प्रार्थना करता हूँ, आप हाँ कह दें।"

मैं पास के कमरे में बैठी सब सुन रही थी। सचमुच मैंने अनिमेष को बहुत समझाया था, वह अलग होने का विचार छोड़ दे पर वह न माना था। मैं अलग होना न चाहती थी। फिर मैं विद्रोह किसके विरुद्ध करूँगी ? लड़ूँगी किस से ?

"देखो अनिमेष, जो हो गया है, उसे भूल जाना ही ठीक है। मैं तुम्हारा हितचिन्तक हूँ, तुम अभी से अलग हो जाओगे तो मैं समाज में मुँह न दिखा सकूँगा। तुम केवल अपनी ओर नहीं, मेरी ओर भी देखो, कुल की इज्जत की ओर भी देखो।"

अनिमेष कुछ न कह सका, मान गया।

अहा! कितनी शान्ति मिली मुझे। खुशी से मेरी आँखें बार-बार मुँद जाती थीं।

इस घटना के बाद मैंने घूँघट छोड़ दिया किसी ने मुझसे निकालने को कहा भी नहीं। अब मैं सबकी दृष्टि में पापिनी थी—केवल निशा ऐसा नहीं समझती थी। जेठजी ने भी घूँघट निकालने को न कहा। वह हार गए थे लेकिन क्या मेरे सामने? नहीं, वह हारे थे मेरे उदर में पल रहे उस नव जीवन के सामने, जो कुछ ही माहों में अपनी छोटी सी आवाज के साथ पृथ्वी पर आने वाला था। ऐसी स्थिति में मुझे मानसिक या शारीरिक त्रास देना ठीक नहीं था। यही कारण था, क्यों जेठजी चुप्पी साध गए।

कारण चाहे जो हो, सफलता मैंने पा ली थी।

अनिमेष अक्सर मुझसे कहा करता, "अब जी नहीं लगता वसू, अपना चूल्हा अलग जला लेना ही ठीक है।"

मैं मुसकराकर कहती, "अभी तो इस घर में काफी तोड़-फोड़ करनी बाकी है।"

वह कहता, "ये जंगली हैं, इनसे उलझने में कोई सार नहीं। क्या तुम सोचती हो, प्रसूति के बाद तुम बिना घूँघट निकाले घूम सकोगी?"

"नहीं, मैं जानती हूँ, मुझे फिर से घूँघट निकालने को कहा जाएगा।"

"याने फिर से संघर्ष होगा।"

"यों कहो कि निर्माण होगा। निर्माण से पहले संघर्ष होता ही है।"

"यह संघर्ष बिल्कुल बेकार है। इसमें शक्ति का दुरुपयोग होता है। समझदारी यह है कि इनसे अलग हो जाया जाए। जो लोग बदलने के लिए तैयार नहीं हैं उनमें अपने को खपाने का कोई मतलब नहीं हो सकता। इन्हें छोड़कर अपनी दुनिया अलग बसा लेने में ही बुद्धिमानी है। और इन लोगों को सुधार कर करेंगे भी क्या, क्योंकि कुछ ही सालों में ये सब मर जाने वाले हैं।"

"याने अलग होने का तुम्हारा पक्का इरादा है?"

"हाँ," वह कहता।

मैं चुप रह जाती।

एक बात मैं छोड़ गई। वह यह कि निशा को किसी से प्यार हो गया है। जब देखो वह उसी की बातें करती रहती है। वह उसका सहपाठी है। छरहरे बदन का हँसोड़ युवक। निशा अक्सर उसके दुबलेपन का मजाक उड़ाती है पर इस मजाक के पीछे उसका आकर्षण छिपा हुआ है। और यदि उसका प्रेम सच्चा है तो निशा को बड़ा संघर्ष करना होगा। कारण, वह युवक दूसरी जाति का है। जेठजी प्रेम-विवाह के कट्टर विरोधी हैं। लेकिन प्रेम किया थोड़े ही जाता है, हो जाता है। वह युवक कवि है।

एक बार मैंने पूछा, "क्यों निशी, क्या वह रोज तुम्हें कविताएँ सुनाता है ?"

वह लाल हो गई और बोली, "धत् !"

पर इस धत् से उस पर लगाए गए 'आरोप' का खण्डन नहीं हुआ। उसने कहा, "कालेज में कोई फंक्शन होता है तो वह सुनाता है। केवल मुझे क्यों सुनाने चला ?"

"यह तो तुम जानो।"

वह मेरे गाल पर एक चपत मार कर भाग गई।

और मैंने पक्का कर लिया था कि लड़का योग्य हुआ तो यह विवाह होकर रहेगा। मैं निशा की मदद करूँगी। निशा, जिससे किसी समय मैंने दुश्मनी मोल ले रखी थी, आज मेरी प्रिय थी।

एक दिन मुझे बड़ी इच्छा हुई कि निशा की पेटी देखूँ। शायद उसका कोई प्रेम-पत्र मिल जाए। तब निशा को छेड़ने में कितना मजा आएगा।

लेकिन यह हो कैसे सकता था ? निशा अपनी चाबी सिर-हाने रखकर सोती थी। मैं अपने पर खूब हँसी कि जो इच्छा पूरी नहीं हो सकती उसकी इतनी चाह मुझे क्यों है।

लेकिन चाह कर भी मैं यह सोचना न रोक सकी कि काश, निशा की पेटी मैं एक बार ही खोल पाती।

और फिर बड़ी विचित्र घटना घटी।

उस दिन मैंने अपनी पेटी खोली तो देखा—एक पत्र रखा है। हस्ताक्षर मैं पहचान न सकी। पढ़कर देखा तो निशा के नाम

प्रेम-पत्र था।

यह मेरी पेटी में कहाँ से आया ?

मैं कुछ न समझ सकी। निशा तो इसे रख ही नहीं सकती। फिर ?

एक प्रश्नवाचक मेरे सामने आकर मौन खड़ा हो गया।

मुझे क्या मालूम था, यह मेरे पागलपन की शुरुआत है।

निशा
ने
फिर

कहा : आज मैंने अपनी पेटी खोली तो चकित रह गई। भीतर का सारा सामान बिखरा पड़ा था, मानो किसी ने हड़बड़ी में तलाशी ली हो। मेरा जी धक से हो गया। भीतर ही तो था उनका पत्र! कहीं वह तो नहीं चला गया? रखा तो तली में था।

तुरन्त मैंने पेटी की तली का कागज उठाया और···सचमुच वह गायब था। मुझे अपनी आँखों पर विश्वास ही न हो सका। मैंने कई बार तली का कागज उठा-उठाकर देखा पर उनका पत्र नहीं था।

बेवकूफ की तरह मैं वहीं बैठी रह गई। समझ ही न सकी; कौन, कैसे और क्यों उस पत्र को ले जा सकता है। पत्र की बात किसी को मालूम भी तो नहीं थी। बस, एक तुम जानती हो। पर तुम क्यों मेरी पेटी खोलने चलीं? तीन प्रश्न मेरे सामने थे। एक, पत्र किसने निकाला; दूसरा, किस तरह निकाला और तीसरा, क्यों निकाला।

उस दिन मुझसे खाना न खाया जा सका। मुझे भय था, कहीं ईश्वर भैया ने पेटी की तलाशी न ली हो। किसी तरह ताला खोल लिया होगा उन्होंने। अब यह मेरी लापरवाही जरूर

है कि मैंने पेटी में सस्ता ताला लगाया लेकिन सस्ता ताला लगाने से किसी को शक करने की गुंजाइश नहीं बचती—यह भी तो एक पहलू है।

फिर मैंने सोचा, यह काम ईश्वर भैया का नहीं हो सकता। पेटी के बिखरे सामान से सिद्ध होता था, किसी ने उसे हड़बड़ी में खोला है। ईश्वर भैया को भला क्यों हड़बड़ी होने लगी? उन्हें किसका भय है? वह तो कभी भी, किसी के भी सामने पेटी खोल सकते हैं। और उन्हें पेटी खोलने की आवश्यकता छुप कर क्यों पड़ी? वह तो कभी भी आ सकते हैं और कह सकते हैं—"निशी, खोल अपनी पेटी; मैं देखना चाहता हूँ।"

फिर?

सौदामिनी भाभी? नहीं, वह तो शक होते ही मुझे उधेड़ डालतीं। उन्हें भी छुपकर तलाशी लेने की आवश्यकता नहीं। उनसे छोटी भाभी? नहीं, वह अपने बच्चों में ही इतनी पूरी हैं कि किसी और बात की परवाह नहीं कर पातीं। तो क्या उनके बाद की भाभी? नहीं वह भी नहीं हो सकतीं। उनका मुझ पर बड़ा स्नेह है। यदि उन्हें ऐसा कोई शक होता तो पहले वह मुझे बुला कर पूछतीं और यदि मैं हाँ कह देती तो भी कुछ न कहतीं।

फिर?

फिर बचती हो केवल तुम! लेकिन तुम पर शक कैसे किया जा सकता है?

तो?

और यह ऐसा प्रश्न था जिसका उत्तर मैं किसी से पूछ भी न सकती थी।

अब केवल एक ही आशा थी। वह यह कि जिसने भी मेरा पत्र लिया होगा वह मुझे डाँटने-डपटने के लिए जरूर सामने आएगा। तभी मैं जान सकूँगी, वह कौन है। मैं धड़कते दिल से उस अनजाने व्यक्ति का इन्तजार करने लगी।

हरेक की ओर मैं गूढ़ दृष्टि से देखती थी। कई बार मुझे टोका गया कि मुझे क्या हो गया है। मैं यों क्यों देखती हूँ? मेरे मन की हालत क्या थी, कौन जान सकता था?

दो रातों से मैं सोई न थी। नींद आ भी कैसे सकती थी! दो ही दिनों में मेरे चेहरे का रंग उड़ गया था।

अन्त में मैंने सोचा कि हो सकता है, यह तुम्हारा ही काम हो, मुझे छकाने के लिए तुमने ऐसा किया हो। लेकिन यह कल्पना मुझे केवल कल्पना ही जान पड़ी—मानो नुकसान हो जाने पर यह कहकर मन मनाया जाए कि लक्ष्मी तो आती-जाती रहती है।

क्या मुझे तुमसे पूछ लेना चाहिए?

पूछ ही लेना चाहिए। तुमने पत्र न लिया होगा तो भी तुम उसे खोजने में मदद करोगी। और यदि तुमने लिया होगा, तब तो कोई बात ही नहीं। सारी उलझन दूर हो जाएगी।

लेकिन पूछते ही तुमने आँखें फाड़ दीं और कह उठीं, "हाय दैया! यह क्या हो गया? अभी तो यह बात जाहिर होने में देर थी।"

हाँ, सचमुच अभी देर थी। मेरी परीक्षा करीब थी और मैं उसकी तैयारियों में लगी थी। ईश्वर भैया की बड़ी इच्छा थी, मैं फर्स्ट क्लास में आऊँ। इस बार उन्होंने मेरी पढ़ाई में बहुत

दिलचस्पी ली थी। इसी से अभी उन्हें यह बताया नहीं जा सकता था कि मैं किसी से प्यार करने लगी हूँ। मैंने और तुमने तय किया था, पहले मेरा रिजल्ट निकल जाए, फिर यह बात उठाई जाए। मुझे आशा थी, मैं जरूर फर्स्ट क्लास में आ जाऊँगी। तब ईश्वर भैया वरदान देने की अदा से कहेंगे, "माँग ले, जो तुझे चाहिए!" और मैं अपने उस सब कुछ को माँग लूँगी।

मैंने कहा, "हाँ भाभी, सचमुच यह अच्छा नहीं हुआ। लेकिन पता तो चले कि वह है कौन?"

"तुम चाबी सिरहाने रखकर सोती हो न ?"

"हाँ।"

"फिर ?"

एक सप्ताह बीत गया और कुछ भी पता न चला। अब तो मुझे यही लगने लगा कि जरूर मुझे धोखा हुआ है। मैंने ही पत्र कहीं रख दिया होगा और अब भूल गई हूँ। मुझे शान्ति मिली।

इसे मैं किसी बुरे सपने की तरह भूल ही गई होती यदि वह घटना न घटी होती।

उस दिन मुझे उसकी बहुत याद आ रही थी। मैं चित लेटी आकाश की खूबसूरत काली चादर देख रही थी। मेरे मन में वह था और थीं उसकी कविताएँ। सोच रही थी, मैं कोई सुन्दरी तो हूँ नहीं। मुझे क्यों चाहता है वह ? फिर मुझे वह दिन याद आया जब भावुक होते हुए उसने कहा था, "चाँद कहाँ होता है, जानती हो ? वह तीखी नाक या लकीर सी भौं में नहीं, कहीं और—कहीं और भीतर—दिल में होता है।"

मीठी याद में रात के बारह कब बज गए, पता ही न चला।

मैं अपने कमरे का दरवाजा कभी बन्द नहीं करती। बन्द कमरे में जेल सा बुरा लगने लगता है। बचपन में भी मैं कभी मच्छरदानी में नहीं सोती थी। कमरा चौबीस घण्टे खुला रहता है। ऐसा सामान भी मेरे कमरे में नहीं जिसकी चोरी हो सके।

नाइट बल्ब की फीकी नीली रोशनी कमरे में थी। अचानक हौले से कोई छाया भीतर आई। मैं काँप गई। मेरी जगह कोई और होती तो भय से फट ही पड़ती। ओढ़न में मेरी कंपकंपी छुप रही थी। हवा में उड़ता पल्लू बता रहा था कि वह छाया किसी स्त्री की है।

कौन है वह ? उसका चेहरा दिखाई नहीं पड़ रहा था। मुझे पसीना छूटने लगा।

चाँदनी एक दायरे में ही थी। जहाँ चाँदनी नहीं थी, वहाँ उसका प्रतिबिम्ब था जो रहस्यमय और डरावना लग रहा था। उसी कुहरे के से भाग में उसका चेहरा था, जिससे वह साफ दिखाई नहीं पड़ रहा था। लेकिन मैंने फिर भी उसे पहचानने की कोशिश की। इस ऊँचाई की, इस ढाँचे की कौन है घर में ?

और मेरी आँखों के सामने तुम्हारा चेहरा घूम गया।

वसू भाभी ?

कुछ देर तक वह छाया चुपचाप खड़ी रही, मानो वह मूर्ति हो···निर्जीव मूर्ति ! लग रहा था, अन्धकार में कोई प्रेत आकर खड़ा हो गया हो।

फिर वह छाया मेरी ओर बढ़ी।

मैंने बड़ी मुश्किल से अपनी चीख को रोका। दाँतों से मेरे

होंठ कट गए और खून का खारा स्वाद मुँह में आकर डर को और बढ़ाने लगा।

उसने आगे झुककर मेरे तकिए के नीचे हाथ डाला और चाबी निकाल ली। मैं अचरज में डूब गई। मैंने ध्यान से देखा, वह तुम ही थीं।

तुमने मेरी पेटी का ताला खोला और जाने क्या खोजने लगीं। मैंने उस दिन से अपने पत्र पेटी में रखना छोड़ दिया था। ताला मैंने जान-बूझकर नहीं बदला था। तुमने पेटी की तली का कागज हटाया और टटोलने लगीं। वहाँ मैंने कुछ कोरे कागज मोड़कर रख दिए थे। तुमने उन्हें निकाल लिया और ताला लगा कर चाबी वापस मेरे तकिए के नीचे रख दी।

ज्यों ही तुम जाने को मुड़ीं, मैंने चादर उतार फेंकी और उठ खड़ी हुई। दौड़कर मैंने बल्ब जला दिया।

और जो मैंने देखा, उसे मैं कभी न भूल सकूँगी।

ओह, तुम्हारी वे आँखें···

जिन्दा आँखें ऐसी हो सकती हैं ?

और तुम्हारे चेहरे के वे भाव !

बल्ब जलते ही तुम्हारा चलना रुक गया। तुम्हारा चेहरा देखकर मैं बुरी तरह डर गई। आश्चर्य था, मैं चीख न पड़ी। तुम मेरे सामने किसी मुर्दे की तरह खड़ी थीं। तुम्हारी आँखें ऐसी हो गई थीं जैसे शीशे की बनी हों। आँखें खुली होते हुए भी मानो तुम कुछ नहीं देख रही थीं।

एक मिनट तक तो मैं ताकती ही रह गई। तुम्हारी आँखों में न शर्म थी, न कोई झिझक, न कोई और भाव। तुम्हारा

चेहरा मानो श्मशान भूमि था जहाँ सारी भावनाओं की मौत हो चुकी हो। मुझे कंपकंपी छूट गई। मेरी समझ में कुछ भी न आ रहा था।

मैंने तुम्हारे कन्धे पकड़ लिए और झकझोरते हुए पूछा, "भाभी, भाभी, तुम्हें क्या हो गया है?"

झकझोरते ही तुम नीचे बैठ गई, मानो कोई लकड़ी, जो बहुत ही छोटे सहारे से खड़ी हो, छू देने से एकदम उलट गई हो।

और...फिर मैंने देखा, जैसे तुममें जान आ गई···तुम्हारी आँखों की मुर्दनी गायब हो गई। अचानक जैसे नींद में से जगा दी गई हो, यों तुम विकल होकर चारों ओर देखने लगी और मैं जान न सकी, यह ढोंग है या और कुछ।

तुमने बड़े आश्चर्य से मेरी ओर देखा और पूछा, "रात को तुम मेरे कमरे में? अनिमेष कहाँ है?"

मैंने नीचे बैठते हुए कहा, "भाभी, यह तो मेरा कमरा है। तुम खुद मेरे कमरे में आई हो। देखो, तुम्हारे हाथ में क्या है।"

तुमने चौंकते हुए अपने हाथ की ओर देखा। तुम उन्हीं कोरे कागजों को पकड़े हुए थीं जो अभी मेरी पेटी से निकले थे। अचानक बालों को ठीक करती हुई तुम उठीं और बड़ी स्वस्थता से बोलीं, "मैं सब समझ गई···"

"क्या समझ गई?" आश्चर्य से मैं बड़ी मुश्किल से इतना बोल पाई।

तुमने मेरी ओर ऐसी दयनीय दृष्टि से देखा कि मैं पिघलने लगी। लगा, तुम्हें छाती से चिपटा लूँ। थोड़ी देर तक तुम मेरी ओर देखती रहीं, फिर बोलीं, "मुझे नींद में चलने की आदत पड़

गई है। मैंने यह सब नींद में किया है। मुझे इस बारे में कुछ नहीं मालूम।" तुम सिसकने लगीं। मैंने तुम्हें बाँहों में भर लिया और कहा, "रात है, रोओ नहीं। कोई सुन लेगा तो..."

तुम चुप हो गईं।

फिर हममें कोई बात न हो सकी। मैं तुम्हें तुम्हारे कमरे तक छोड़ आई। तुम दरवाजा बन्द कर रही थीं तो मैंने देखा, तुम्हारी आँखों में आँसू थे। अनिमेष सो रहा था। उसे कुछ भी मालूम नहीं था।

मैं कमरे में वापस लौटी और सोच में डूब गई। मैंने नींद में चलने की बीमारी के बारे में कई बार पढ़ा और सुना था, आज उसे देख भी लिया। पर इस चोरी की इच्छा का कारण? इसके पीछे क्या छुपा है? मुझसे दुश्मनी? हाँ, हो सकता है। कालेज में हमारी पटती नहीं थी। यहाँ आकर तुम मुझसे हँस-हँसकर बातें करने लगी हो। हो सकता है, हँसकर बात करना तुम्हारा ढोंग हो और तुम्हारा विद्रोह इस तरह बाहर आया हो।

हर व्यक्ति अपने को कम या ज्यादा प्यार करता है। चीजें सम्हालकर रखना, खुद सँवरना-सजना—ये सब अपने प्रति प्रेम के ही लक्षण हैं। महत्वाकांक्षी लोग अपने को औसत व्यक्ति से ज्यादा प्यार करते हैं। कभी-कभी महत्वाकांक्षा के दमन से या इस आत्म-प्रेम की अधिकता से व्यक्ति कई ग्रंथियों का शिकार हो जाता है। मुझे लगा, तुम्हारे मन में भी ऐसी ही कोई ग्रंथि पड़ गई है। नींद में चलना शायद तुम्हारे अहं को सन्तोष देता हो। तुम्हारी महत्वाकांक्षाओं को ससुराल में चारों ओर से निर्द-

यता के साथ दबाया गया है। कहीं यह उसका तो परिणाम नहीं ? यदि ऐसा है तो एक ताकत बिखर रही है। एक व्यक्तित्व टूट रहा है।

मुझे एक-एक कर सारी बातें समझ में आने लगीं। तुम में शासन की इतनी बलवती इच्छा शायद इसीलिए है कि ताना-शाही तुम्हारे आत्म-प्रेम को सन्तोष देती होगी।

कई बार मनोवैज्ञानिक कारण समझ लेने पर रोग दूर हो जाता है, यह सोचकर मैं दूसरे दिन तुम्हारे पास आई और बोली, "मैं जानती हूँ, तुम्हें क्या रोग है।"

तुमने मेरी ओर मेमने की तरह देखा और कहा, "मैं पागल हो गई हूँ निशी, बिल्कुल पागल···"

तुम मुझे अपने कमरे में ले गई। तुमने पेटी खोलकर मेरा वही पत्र बाहर निकाला···वही प्रेम-पत्र···और कहा, "यह मेरी पेटी में से निकला तो मैं अचरज में डूब गई। मुझे नहीं मालूम था, वह मेरे पास कैसे आया। तू ही बता, मैं सोच भी कैसे सकती थी कि मैं नींद में चलकर चोरी करने लगी हूँ। यह तो अच्छा हुआ, पत्र तुम्हारा था। किसी और की चीज होती तो···"

"भाभी, तुमने यह मुझे लौटा क्यों न दिया ?"

"मैं बहुत घबरा गई थी। न जाने कब से यह मेरी पेटी में पड़ा है। परसों मैंने इसे खोला तो पता चला। मैं समझ ही न सकी, तुम्हें बताया जाए या नहीं। मैं कभी-न-कभी तुम्हें बता जरूर देती पर उसके पहले ही यह सब हो गया।"

"कोई बात नहीं।" मैंने कहा, "परन्तु भाभी, तुमने अभी

जो शक किया है, वह भयानक है। यदि तुम किसी और की चीज चुरा बैठोगी तो पकड़े जाने पर तुम्हारी और साथ ही अनिमेष की भी खिल्ली उड़ेगी।"

"हाँ," तुमने कहा, "पर तू ही बता निशी, मैं क्या करूँ?"

मैंने शुरू से आखिर तक तुम्हें समझाया कि मैंने रोग का क्या कारण खोज निकाला था, फिर कहा, "तुम अपना रोग जान गई हो। अब तुम उससे छुटकारा पा जाओगी।"

"मुझे विश्वास नहीं है।" तुम बोलीं।

और सचमुच तुम छुटकारा न पा सकीं। विश्वास की कमी के कारण ही ऐसा हुआ। दो ही दिन बीते होंगे कि तुम मेरे पास भयभीत आँखों के साथ आईं और बोलीं, "मैं क्या करूँ?"

"क्या हो गया?"

"आज मेरी पेटी से बड़ी बहू का हार निकला है।"

मैं मूढ़ हो गई।

थोड़ी ही देर में हार की खोज में चिल्ल-पों मच गई। हम दोनों उस खोज में शामिल हो गईं। मैंने मौका ढूँढ़कर कहा, "जरा भी न घबराना। मैं सब ठीक कर लूँगी।"

उस दिन हार न 'मिला'। जब रात हुई तो मैंने चुपके से हार सौदामिनी भाभी के दरवाजे के नीचे से भीतर खिसका दिया। दूसरे दिन भाभी रुआब के साथ घूम रही थीं और कह रही थीं, "चोर का दिल छोटा होता है। उसने डर के मारे हार दरवाजे पर रख दिया।"

तुम्हारा चेहरा पीला पड़ गया था।

मैंने तमसे सखा मजाक किया, "पाँव में रस्सी बाँधकर

सोया करो।"

तुम चुप रहीं।

"क्यों न यह बात सबको बता दी जाए? फिर तुम पर कोई आरोप न लगाया जा सकेगा। नींद में चोरी करते ही तुम सबको बता दोगी कि फलाँ चीज मेरे पास है।"

तुम काँपीं और बोलीं, "नहीं, सब मेरी खिल्ली उड़ाएँगे। मैं न सह सकूँगी।"

मैंने तुम्हारी कमजोर नस पकड़ी. "लेकिन इस तरह तुम सबकी चर्चा का विषय बन जाओगी।"

तुम दर्दीली आँखों से मेरी ओर देखती हुई बोलीं, "नहीं, अब मैं चर्चा का विषय नहीं बनना चाहती। मैं इस आदत से छूटना चाहती हूँ। मेरी महत्वाकांक्षाएँ अब मर गई हैं। मैं कीड़ों की जिन्दगी जीना चाहती हूँ। ओह निशी!"

"भाभी, तुम निराश क्यों हो गई हो? घूँघट तो तुमने छोड़ ही दिया है।"

"यह सफलता मुझे नहीं, मेरे भावी शिशु को मिली है। उसके जन्म के बाद तुम देखना, मुझ पर कैसा दबाव डाला जाएगा," तुम बोलीं, "और केवल मेरे विद्रोह करने से क्या होता है? मेरी सफलता तो तब है जब हर बहू विद्रोह कर दे। सच निशी, कई बार लगता है, अनिमेष की बात मान लूँ—अलग हो जाऊँ इस कुटुम्ब से। उसका कहना है, इनकी दुनिया पत्थर की है, बदल नहीं सकती। उसे बदलने की कोशिश में क्यों अपनी ताकत बेकार की जाए? हमें इनसे अलग होकर अगली पीढ़ियों की फिक्र करनी चाहिए। ये लोग तो अपने आप नष्ट हो जाएँगे।

अनिमेष को जब सारी बात बताई गई तो वह चिन्ता में पड़ गया। उसने भी यही कहा कि यह बात सबको बता दी जाए, पर तुम किसी भी शर्त पर राजी न हुईं। तुमने कहा, "मेरा मजाक उड़ाया जाएगा। मैं कैसे सहन करूँगी।"

"बता देना ही मुझे ठीक लगता है।"

"नहीं, नहीं, नहीं।" एकदम तुम रो पड़ीं।

मैंने पसीजकर कहा, "भैया, रहने दीजिए। जो होगा, देखा जाएगा। और भाभी की यह आदत जन्म भर के लिए तो है नहीं। वह जल्दी ही ठीक हो जाएंगी।"

अनिमेष कुछ न बोला। गहरी चिन्ता में डूब गया वह।

कुछ दिन और बीते। तुम्हारे नींद में चलने की चलने की नई घटना न घटी।

हम तीनों खुश हो गए।

फिर मेरी परीक्षाएँ आ गईं और उसकी तैयारियों में मैं अपने को भी भूल गई। ईश्वर भैया प्रायः मेरी पढ़ाई के बारे में पूछा करते। मैंने उनसे कहा, "देखिए भैया, फर्स्ट क्लास आऊँगी तो मनचाही चीज माँग लूँगी।"

"मैं शौक से दूँगा अपनी निशी को।"

उन्हें क्या मालूम था, वह 'चीज' कितनी महँगी थी।

परीक्षाएं हो गईं। सब पर्चे अच्छे हो गए थे। फर्स्ट क्लास की पूरी उम्मीद थी ···उस उम्मीद पर एक और उम्मीद टिकी थी···

और वह दिन भी आ गया, जब परिणाम निकलने वाला

था। सुबह से ही मेरी धड़कन बढ़ गई थी। जब अखबार आया और ईश्वर भैया की किलक मैंने सुनी, तो मेरी उत्तेजना की सीमा न रही। क्या मैं फर्स्ट क्लास आ गई थी? मैं बाहर दौड़ी। भैया अखबार देख रहे थे। उन्होंने अखबार मेरी ओर फेंक दिया और कहने लगे, "शाबास लड़की! शाबास लड़की!"

मैंने देखा, मैं फर्स्ट क्लास सैकिंड आई थी। अखबार चूम लिया मैंने।

मेरे देव! मेरे कवि! तुमने भी तो अखबार में मेरा नाम देखा होगा। मुझसे भी ज्यादा खुश हुए होगे तुम!

दो दिन बीते। मेरी और तुम्हारी खुशी चरम सीमा पर थी। अब ईश्वर भैया से मुझे अपनी 'चीज' माँगनी थी।

मैंने कहा, "सौदामिनी भाभी के जरिए बात कहलवाई जाए।"

तुमने कहा, "धुत पगली, यह काम तो तुम्हारा है।"

"मेरी तो हिम्मत न पड़ेगी।"

"खूब! जब इतनी भी हिम्मत नहीं है तो आगे कैसे लड़ोगी।"

तुम्हारी आँखें कौंध गईं। मुझमें नई ताकत आ गई। तुम्हारा व्यक्तित्व कितना शक्तिशाली था, मैंने अब महसूस किया। उसी दिन मैं ईश्वर भैया के पास गई और थोड़ी झिझक के बाद सारी बात साफ-साफ कह दी।

ईश्वर भैया मेरी ओर आश्चर्य से देखते रह गए। उन्हें बिश्वास ही न हुआ, यह लड़की ऐसा साहस कर सकती है। मैं अपनी बात कहकर वापस चली आई। उनके सामने खड़े रहने

का एक ही मतलब था—उनको बौखला देना।

मेरी बात का ईश्वर भैया पर क्या असर पड़ा, यह मैं उस दिन तो कुछ न भाँप सकी, लेकिन दूसरे दिन सौदामिनी भाभी ने आकर कह दिया, "शादी नहीं हो सकती।"

यों आशा मैंने यही की थी, पर सुनकर मेरा दिल धक से हो गया।

तुमने कहा, "हम लड़ेंगी।"

"किस तरह ?"

"वही तरीका, अनशन का।"

"उसमें तो तुम्हें करारी हार मिल चुकी है।"

"अब न मिलेगी, तुम देखना। मैं यह शादी करवाए बिना न मानूँगी।"

"अनिमेष भैया मेरी ओर हैं ?"

"हाँ, पर मैं कभी न चाहूँगी कि वह इस बार बीच में पड़े। मैं अकेली ही काफी हूँ।"

मैंने अविश्वास से तुम्हारी ओर देखा। कैसी विचित्र हो तुम।

दूसरे दिन से तुमने और मैंने अनशन कर दिया। ईश्वर भैया ने यह सुना तो हँस पड़े, "एक बार चोट खाकर भी नहीं चेती छोटी बहू !"

पर तुम्हारे साथ मैंने भी अनशन किया था, जिस पर उन्हें आश्चर्य था। मेरे पास आकर पूछा, "खाना नहीं खाओगी ?"

मैं चुप।

"खाओ चाहे न खाओ, पर तुम्हारी शादी एक कंगाल से

नहीं हो सकती।"

जवाब देने की तो बहुत इच्छा हो आई, पर चुप रही—जैसा कि हम दोनों ने तय किया था। भैया ने और भी कई कड़वी बातें कीं, पर मैं चुप रही। उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि इस शादी में छोटी बहू का कोई-न-कोई स्वार्थ छुपा है। सारा दोष उन्होंने तुम्हीं पर डाल दिया। मैं अन्त तक कुछ भी न बोली। मौन भला कभी हारा है? वह चले गए।

तीसरे दिन मैं बहुत कमजोर हो गई, पर अनशन तोड़ने का मतलब था सदा के लिए हार जाना। और मेरे लिए तुम जो इतना कष्ट उठा रही थीं। मेरा आनन्द और अचरज छलक-छलक जा रहा था। इस आगल से तुम्हें सिवा बदनामी के क्या मिलने वाला था? मुझे शक होता—कई बार निश्चय तक हो जाता कि यह भी तुम्हारा सबका ध्यान आकर्षित करने का एक तरीका है। तुम इस आदत को छोड़ना तो चाह रही हो, पर शायद अब यह तुम्हारे वश की बात नहीं है। तुम इस विचित्र चाह की गुलाम हो चुकी हो।

"भाभी," मैंने कहा, "मुझे केवल तुम्हारी फिक्र है। तुम पहले से ही छीज गई हो, ऊपर से अनशन। नहीं, नहीं, तुम अनशन तोड़ दो। तुम्हें अभी किसी को जन्म देना है···"

"निशा," तुम्हारी आँखें कौंधीं, "तुम समझ लो, तुम्हारे या मेरे अनशन का इस घर में कोई महत्त्व नहीं है। यदि महत्त्व है तो मेरे भावी शिशु का। उसी के कारण तुम्हें शादी की अनुमति मिलेगी, मेरी निशी! अनशन से मेरे कमजोर होने का मतलब होगा, भावी शिशु को खतरा···"

"भाभी, तुमने कितना बड़ा खतरा मोल लिया है। न, न, मैं अपने कारण यह कभी न होने दूँगी। भाभी, तुम्हें मेरी कसम, तुम अनशन मत करो, अकेली मैं करूँगी।"

तुम गम्भीर होकर बोलीं, "आज की हार याने हमेशा की हार। हम दोनों को बुरी तरह कुचल दिया जाएगा। तुम मुझे अभी तक पहचान नहीं पाईं, निशा ! मैं वसुधा हूँ।"

वसुधा ! वसुंधरा ! पृथ्वी ! कितनी शक्ति है तुझमें, कितना धैर्य है तुझमें, कितना सर्जन कर सकती है तू ! वसू··· ऐ वसू···! सुन तो, मैं पहचानती हूँ तुझे···हाँ, हाँ !··· अच्छी तरह पहचानती हूँ ! क्या समझी ?

पर क्या तू टूट नहीं रही है ? बिखर नहीं रही है ? तुझमें कितनी पीड़ा भरी है। या फिर यह अंकुर फूटने के पहले की पीड़ा है—तब फट जाती है धरती ! वसू ! ऐ वसू...बोल न कुछ, कुछ तो बोल। इतनी रहस्यमयी न बन, री !

चौथा दिन। कोई आशा नहीं। तुम बिल्कुल कंटिया गई थीं। पहचानी भी नहीं जाती थीं।

मैं अनिमेष के पास पहुँची। वह चेहरा लटकाए बैठा था। कहा, "भैया, भाभी को रोको।"

"वह कभी मेरी बात मानती भी है ?"

मैं चली आई।

शाम को ईश्वर भैया आए और बोले, "वसुधा को बुलाओ।"

तुम गईं—उजाड़े मुँह।

"नहीं मानोगी ?"

तुम चुप। मैं चुप।

मेरी ओर मुड़कर भैया ने कहा, "तुम्हारा वह प्रेमी तुमसे प्रेम करता है या तुम्हारे पैसे से ?"

"आप खुद उनसे पूछ लें।" मैंने छोटा सा जवाब दिया।

"पता जानती हो ?"

"हाँ।"

इसका क्या मतलब था ? सुलह ?

जाते-जाते उन्होंने कहा, "यदि तुम्हारी शादी उससे होगी तो मैं शादी में एक पाई नहीं दूँगा।"

उनके जाने के बाद मैंने तुम्हारी ओर देखकर आँखों-ही-आँखों में पूछा, अब ? तुम मुसकरा रही थीं। "हम जीत गईं।" तुमने कहा।

फिर रुककर तुम बोलीं, "नहीं, हम हार गईं।"

मैं भौंचक तुम्हारी ओर ताकने लगी।

"हाँ निशी, हम हार गईं। यह जीत हमारी नहीं, उसकी है जो अभी पैदा नहीं हुआ।"

लिपट गई मैं तुमसे।

दूसरे दिन भैया ने आकर कहा, "देखो निशी, तुमने आज मेरा जी जितना दुखाया है, उतना किसी ने नहीं दुखाया। खैर, अपना भला-बुरा तुम खुद समझ सकती हो। और मैं जमाने की हवा भी देख रहा हूँ। यह सब मेरे सिद्धान्तों के विरुद्ध है लेकिन लगता है, मुझे स्वीकार करना ही होगा। तुम्हारा भाग्य अच्छा

है। यदि तुमने यह बात आज से एक साल पहले उठाई होती तो तुम्हें किसी भी शर्त पर इजाजत न मिलती। देखो, आज तुम्हारा वह प्रेमी आने वाला है। तुम्हारे ही सामने मैं उससे बातें करूंगा।"

मेरी धड़कन बढ़ गई।

जब दोपहर का खाना निपट चुका, वह आया। उसके साथ ईश्वर भैया ड्राइंग-रूम में जा बैठे। मुझे बुलाया गया। मैं गई। मेरे सामने ही बातचीत हुई। भैया ने उससे पूछा, "शादी हो जाएगी तो तुम पर जिम्मेदारी भी आएगी। निभा सकोगे?"

"हाँ," उसने कहा, "मेरी नौकरी लग गई है। दैनिक 'नवप्रभात' में सहसम्पादकी मिली है। माता-पिता के सिवा मेरा कोई रिश्तेदार नहीं है। तनख्वाह से खर्च चल जाएगा। आगे तरक्की के भी बहुत मौके हैं। हाँ, मेरे पास बंगला और कार नहीं है, न होगी। मैं कमाऊँगा भी तो सब राष्ट्र की उन्नति में लगा दूँगा।"

"याद रखना, यह शादी मेरी सख्त नाराजगी के साथ होगी। शायद तुम्हारे मन में कहीं निशा के रुपयों का लालच छुपा हो। मैं निशा को एक पाई भी नहीं दूँगा।"

वह व्यंग्य से मुसकराया। बोला, "आपने मुझे गलत समझा लेकिन आपने जो शक किया वह बहुत स्वाभाविक है। असलियत तो यह है कि मैं खुद आपको एक भी पाई न देने के लिए कहने वाला था। मुझे अपनी कलम पर विश्वास है, अपनी रोटी आप कमा सकता हूँ।"

ईश्वर भैया ने उसकी ओर गहरी दृष्टि फेंकी। इस बार तो मेरी भी निगाह उठ गई उसकी ओर। उसके लिए मेरे मन में बहुत मान उमड़ आया था। उसकी आँखें चमक रही थीं।

और भी बहुत सी बातें हुईं। अन्त में जब उठने का समय आया तो उसने भैया से कहा, "मैं नहीं जानता, आपने क्या निर्णय लिया, पर एक निवेदन मैं भी आपसे करूँगा।"

ईश्वर भैया ने उसकी ओर देखा।

"मैं चाहूँगा कि यह विवाह नए ढंग से हो। विवाह में बेकार खर्च करने का मैं सख्त विरोधी हूँ।"

"याने ?"

"मैं चाहूँगा, विवाह एक दिन में हो जाए। मुख्य विधियाँ एक ही दिन में निपटा दी जाएँ। शाम को प्रीति-भोज दे दिया जाए। भोज में भी मिठाइयों की भरमार न हो।"

ईश्वर भैया ने उसकी ओर अजीब दृष्टि से देखा। काफी देर तक देखते रहे, फिर बोले, "यदि मैं कहूँ, ऐसा नहीं हो सकता, तो ?"

"मैं कारण जानना चाहूँगा। यदि आपके तर्क ने मुझे आश्वस्त कर दिया तो मैं आपकी बात मान लूँगा अन्यथा आपको मेरे तर्क सुनने होंगे और उन्हें न मनाने का कारण देना होगा।"

"यदि मैं कारण देने से इन्कार कर दूँ ?"

"विवाह में जितना कम खर्च हो, मैं उतना ही अच्छा समझता हूँ। चीन-जापान में गरीब कुटुम्बों के संघ होते हैं। संघ हर साल सामूहिक शादियां करवाते हैं। एक पादरी एक साथ कई कुटुम्बों को निपटा देता है। एक शादी में मुश्किल से बीस रुपए

खर्च होते हैं। भारत में भी इसी तरीके को अपनाया जाना चाहिए। शुरुआत पैसे वाले करेंगे तो दूसरे वर्ग भी इसे अपना लेंगे। कम खर्चीली शादियाँ इसी ओर पहला कदम है। पैसे वालों को यदि खर्च ही करना हो तो वे गरीबों के लिए मकान बनवाएँ या ऐसा ही कोई रचनात्मक काम करें। फिजूलखर्च का आखिर मतलब क्या है? मैं आपको खर्च करने से नहीं रोकता। निशा के नाम पर बहुत सा काम किया जा सकता है। परन्तु शादी तो मेरी ही इच्छा के अनुसार होगी।"

"हुँ," भैया सोच में पड़ गए। एकाएक पूछा, "तुम्हारी शादी का खर्च कौन देगा?"

"मैंने इसके लिए कर्ज नहीं लिया है!" उसने व्यंग्य से मुसकराकर कहा, "विद्यार्थी जीवन में ही मैंने इसके लिए धन जोड़ लिया था।"

आखिर ईश्वर भैया ने अपना फैसला दे ही दिया, "अब मैं क्या करूँ! जैसा आप लोग चाहें। यह नया खून!"

मर गई मैं लाज की मारी। उठकर भाग गई मैं।

ईश्वर भैया में अचानक यह परिवर्तन कैसा? क्या नए विचारों ने पुराने विचारों को हरा दिया? यह भी हो सकता है कि इस समय वह बड़ी उलझन में पड़े हुए हों और सारी बातें सच्चे मन से मानने के लिए तैयार न हों।

लेकिन ईश्वर भैया की जिद! सचमुच एक पाई उन्होंने मेरी शादी में न दी। शादी नए तरीके से हुई। समाज में युवकों ने खूब तारीफ की, बुजुर्गों ने ईश्वर भैया को पागल घोषित किया।

फिर चली गई मैं उनके साथ, तुम्हें समुद्र में छोड़कर।

अरी वसू, मुझे रोने से न रोक री। जी भरकर रो लेने दे मुझे। तू न होती, मैं घुट-घुटकर मर जाती। तुझे क्या दूँ, मेरी पृथ्वी। बोल री, क्या दूँ? है क्या मेरे पास? मैं तो दब गई तेरे एहसान से। और देख, यह बोझ कभी न हटाना।

दैनिक 'नवप्रभात' में वह काम पर जाने लगे हैं। उनके मन का काम है, खूब जी लगता है। मुझे पाकर उन्होंने संसार पा लिया है। बात करते कभी अघाते नहीं।

आज तुम्हारा पत्र आया। तुमने मुझे बुलाया है। तुम चाहती हो, प्रसूति के समय में तुम्हारे करीब रहूँ। मेरे बिना तुम्हें चैन न पड़ेगा।

जरूर आऊँगी मैं, भला क्यों न आऊँगी।

वसुधा
ने
फिर
कहा : आज आ गई है निशा। उसका चेहरा नया-नया हो गया है। क्यों न होगा नया, अपने सब कुछ को पा गई है न! मुझे देखते ही बोली, "अरे भाभी, इतनी दुबली कैसे?"

मैं हँस पड़ी, "दुबली न होऊँगी तो क्या होऊँगी।"

ज्यों-ज्यों वह दिन करीब आता जा रहा है, अनिमेष की चिन्ता बढ़ती जा रही है। हर अच्छे पति को पत्नी की पहली प्रसूति पर चिन्ता होती ही है।

और निशा, तुम्हारी मीठी चुटकियाँ मुझे बहुत अच्छी लगती हैं। कवि की पत्नी होकर तुम भी जैसे कवयित्री हो गई हो। हर समय जैसे गुदगुदाती रहती हो। तुम्हें शिकायत है, बच्चे के लिए मैंने स्वेटर, मोजे कुछ नहीं बनाया। चलो, मैं तुम्हारी शिकायत माने लेती हूँ।

लेकिन मैं सबसे ज्यादा इसलिए खुश हूँ कि मैं अपने उस पागलपन से छुटकारा पा गई हूँ। आह, जाने किस अपराध की सजा मिली थी मुझे। खुद मुझे पता न चलता था, कब मैं रात को उठती थी और किसी की कोई चीज चुरा लेती थी। कुछ रातों तक सचमुच मैं पैर में रस्सी बाँधकर सोई। कई

बार मेरे पैर में मोच भी आ गई। वह पागलपन अब नहीं है।

लेकिन वह तो सचमुच का पागलपन था, अब मुझे उसका ढोंग करना था।

मैंने एक सुन्दर बच्ची को जन्म दिया। खुशी के सागर में डूब गई मैं। प्रसूति में विशेष तकलीफ भी न हुई थी। पड़ोसनें बधाई देने आने लगीं। मेरे लिए उनकी आँखों में मखौल भरा था, यह मैं बहुत साफ देख सकती थी, लेकिन मुझे उनकी परवाह नहीं थी। यह दुनिया इतनी बड़ी है—हर किसी को खुश नहीं किया जा सकता।

तीसरे दिन जाने कैसे मेरी हालत बहुत खराब हो गई। डाक्टर आया। उसने कहा, "यह बहुत कमजोर हो गई है।"

मैं जानती थी, यह कमजोरी अनशन के कारण थी। डाक्टर ने ताकत की दवाएँ लिखकर दीं, मैं पीने लगी। मैं जीना चाहती थी ताकि मैं हर समय अनिमेष की रक्षा करती रहूँ। मेरे बिना उसका क्या होगा, मैं सोच भी न पाती।

और मैंने देखा, मेरी वह आदत फिर से उभर रही है, वही आदत···सबके आकर्षण का केन्द्र बनने की वह पागल चाह···

जब औरतें मुझे घेरकर बैठतीं तो मुझे बड़ा सन्तोष मिलता। अपने को मैं कुछ क्षणों तक जैसे बिल्कुल भूल जाती, गदगद हो जाती मैं। मैं समझ गई, मेरी वही आदत फिर उभर रही है···और मैं डर गई, भयानक रूप से डर गई। यह आदत इतने दिनों तक दबी रही है। अब तो विस्फोट ही होगा।

और वही हुआ···

मैं पागलपन का ढोंग करने पर मजबूर हो गई।

सच कहती हूँ, बड़ा मजा आया ढोंग करने में। कई बार लगता था, जन्म भर इसी तरह ढोंग करती रहूँ—पागल बनी रहूँ। लोग मुझे देखने आते रहें, मुझे घेरे रहें। चारों ओर मैं ही मैं।

मैं इतनी कमजोर हो गई थी कि चलते भी न बनता था। मैं आखिरी बार सबका ध्यान आकर्षित कर लेना चाहती थी। बुझता दीपक एक बार जोर से भभकता है, उसी तरह मैं भी एक बार जोर से भभकना चाह रही थी। जाने क्यों मुझे विश्वास हो गया था, यह आखिरी भभक है। इसके बाद मैं इस भड़ास के पंजे से हमेशा के लिए छूट जाऊँगी। इसीलिए ढोंग करने की बात मैंने अनिमेष और निशा को भी न बताई···

इन्हीं दिनों मैंने एक अजीब सपना देखा। मैं एक मंच पर खड़ी हूँ। मंच बहुत ऊँचा है। आसपास रंगीन बादल उड़ रहे हैं। मेरे चारों ओर फूलों के ढेर लगे हैं। वातावरण में मधुर संगीत हो रहा है। सामने एक माइक है। मैं भाषण दे रही हूँ। एक जोशीला भाषण! बदल दो दुनिया को, उधेड़ दो ढकोसलों को, यह कर डालो, वह कर डालो। मेरे सामने समुद्र की तरह भीड़ लहरा रही है, लेकिन चारों ओर खामोशी है—सब ध्यान से मेरी आवाज सुन रहे हैं। मैं ताल ठोक-ठोककर चिल्ला रही हूँ, नई फसल! नया खून!

मेरा भाषण खत्म होता है। चारों ओर से जयजयकार उठता है। मैं फूलों की मालाओं से लद जाती हूँ।

उसी समय···

थड़ड़ड़ड़···

घनघोर वर्षा के साथ बिजली के चाबुक लपलपाने लगते हैं। मेरी माला उड़ जाती है। भीड़ का समुद्र गायब हो जाता है। चारों ओर अंधकार, अंधकार, अंधकार !

अचानक कोई मुझे जकड़ लेता है। मैं छटपटाती हूं। लगता है, कोई चील है—पहाड़ जितनी बड़ी। उसकी आँखों में आग जल रही है। उसकी चोंच ने मुझे कमर से पकड़ लिया है। वह उड़ने लगी है। मैं हवा में हाथ-पाँव फटकार रही हूँ, उसकी गर्दन पर मुक्के मार रही हूँ। उसके परों में मेरी हथेलियाँ उलझ जाती हैं। वह आँधी और तूफान को चीरती हुई ऊपर···और ऊपर उठ रही है। मेरा दम घुटने लगता है। मेरा पेट फट गया है। उसकी चोंच भीतर घुस गई है। खून से लथपथ हो गई हूं मैं, मेरी अंतड़ियाँ बाहर निकल रही हैं। और···और वह चील मुझे दो टुकड़ों में तोड़ देती है। सिर एक ओर गिरता है, पाँव एक ओर। मैं चीख पड़ती हूँ···जोर से···

मेरी नींद खुल गई। मैं पसीने में नहा गई थी। सब मेरे पास जमा हो गए थे। वे पूछ रहे थे, "क्या हुआ ? क्या हुआ ?"

मैं हाँफ रही थी। गर्म दूध पीकर मैंने सोने की नाकामयाब कोशिश की।

चौथे दिन जब बड़ी बहू सौदामिनी ने मेरे कमरे का दरवाजा खोला तो मैं अचानक जोर से हँस पड़ी। बेचारी सौदामिनी मेरी ओर ताकती ही रह गई। जोर से हँसकर फिर मैं जोर से सिसक पड़ी। सौदामिनी चीखकर बोलीं, "वसू, क्या

बात है ? क्या हुआ ?"

"मुझे ?" मैंने वीभत्स इशारे करते हुए कहा, "मुझे ? मुझे तो कुछ भी नहीं हुआ। हाँ, आपको क्या हो गया है ? देखिए आपका चेहरा काला हो रहा है।"

वह कुछ न समझीं। पास आ वह मेरे माथे पर हाथ फेरने लगीं लेकिन मैंने जोर का झटका दे दिया। भय से वह पीछे हट गईं। एक क्षण वह मेरी ओर देखती रहीं, फिर बाहर चली गईं। उनके जाते ही मैं मन-ही-मन बहुत हँसी कि वाह, मैं कितनी अच्छी अभिनेत्री हूँ, मेरी अभिनय कला अभी मरी नहीं।

कुछ देर के बाद निशा भीतर आई। उसने मेरी ओर रहस्यमय दृष्टि से देखा। मैंने सोचा, 'इस बार तू मेरी थाह न पा सकेगी निशा।'

वह मेरे पास आई। तुरन्त मैंने कहा, "यह लड़की पागल है।'

निशा डरी नहीं, खड़ी रही, घूरती रही। फिर वह धीमे से हँसी और बिना एक शब्द कहे बाहर चली गई।

क्या वह जान गई ? वह जान गई ?

खबर आग की तरह फैली कि बसुधा पागल हो गई है। जो मुझे देखने आता, मैं उसे पागल, लूला, अन्धा या और कुछ कह देती। लोग मेरी ओर अचरज से देखते और डर के मारे दूर-दूर रहते। मुझे अद्भुत सन्तोष मिल रहा था। मैंने कई बार भाभियों को गालियाँ दीं हालाँकि उन्होंने मेरा कुछ न बिगाड़ा था। मन की पूरी भड़ास मैंने निकाल ली।

चार दिन बीत गए। डाक्टर का कहना था कि प्रसूति में

बहुत ज्यादा कमजोरी आ जाने के कारण ऐसा हुआ है। उसने सबको समझाया था कि किसी को मेरी किसी बात का बुरा न मानना चाहिए क्योंकि मैं होश में नहीं हूँ।

फिर तो मुझे सबको मनमानी गालियाँ देने की इजाजत ही मिल गई। सबकी दृष्टि में मैं दया की पात्रा थी और सब मेरी दृष्टि में दया के पात्र थे। गालियों के बावजूद जब मेरी ओर दया के भाव से देखा जाता तो मेरे आनन्द में उफान आ जाता। अद्भुत था यह अनुभव···

फिर मेरे ऊधम हद से ज्यादा बढ़ गए। मैं कमरे की चीजें तोड़ने-फोड़ने लगी। कभी-कभी रात के समय मैं यों चिल्लाती मानो कोई मेरा गला घोंट रहा हो। मृत्यु की वेदना की आवाज निकालना सचमुच एक रोमांचक अनुभव है। घर के तथा पड़ोस के बच्चे चौंककर रोने लगते और मेरे होंठ मुसकराहट से खिच जाते।

और उस दिन···

उस दिन मैं आराम से सोई हुई थी। काफी ऊधम मचाने के बाद मैं थक गई थी। सामने अनिमेष का फोटो रखा था। मैं उसकी ओर निहार रही थी।

अचानक निशा भीतर घुसी। उसके कदमों में जरा भी भय नहीं था। वह सीधे मेरे पास आई और फुसफुसाकर बोली, "भाभी, अब यह ढोंग रहने दो। तुमने तो सचमुच मुझे आश्चर्य में डाल दिया है। तुम कह रही थीं न कि वह विचित्र आदत अब छूट चुकी है ? फिर तुम्हारी यह हार ?"

मैं आँखें फाड़कर उसकी ओर देख रही थी। मैंने आखिरी

कोशिश की। "तुम बेवकूफ हो। जाओ वरना मर जाओगी," मैं उसकी ओर देखकर हँसी और पागल की तरह बोली।

उसने बड़ी निर्दयता से कहा, "रहने भी दो भाभी, सब समझती हूँ। मैं तुमको तुमसे भी ज्यादा समझती हूँ। अगर तुमने यह ढोंग न रोका तो मैं सबको बता दूँगी।"

झपटकर मैंने उसका हाथ पकड़ लिया और बोली, "मैं लाचार हूँ निशा, सचमुच मैं लाचार हूँ।"

उसने कहा, "भाभी, वादा करो, कल से तुम ठीक हो जाओगी। यह ढोंग तो अब चरम सीमा पर पहुँच चुका।"

हम दोनों एक-दूसरी की ओर देखती रहीं, देखती रहीं।

अचानक मेरी आँखें फट गईं। मैंने देखा, बड़ी बहू सौदामिनी ठीक मेरे सामने खड़ी थीं। निशा की पीठ उनकी ओर थी जिससे उनके आने का उसे पता न चला था। मैं काँप गई। कहीं उन्होंने हमारी बातें सुन तो नहीं लीं?

वह फुफकार उठीं, "हुँ, तो माजरा यह है। हम सबको बेवकूफ बनाया जा रहा है। वाह! हम तुम्हारे मजाक के लिए हैं, क्यों?"

मैंने देखा, वह निशा को भी मेरे साथ कसूरवार समझ रही थीं।

मैंने निशा की सफाई में कुछ कहना चाहा पर वह गुस्से से धम-धम करती बाहर चली गईं।

अब?

मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा गया।

निशा की आँखें मेरे चेहरे पर टिकी थीं।

निशा
के
नाम
पाँच
पत्र

ईश्वरचन्द्र
ने
लिखा :

निशी,　　　　　　　　　　　　　　१२ जुलाई, १९६०

आशीष।

आज पहली बार मैं तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ। तुम सोचती होगी, ईश्वर भैया कैसे अजीब हैं, शादी में एक पाई भी न दी। पर सच कहता हूँ, मुझे तुम पर बेहद गुस्सा था। तुम जल्दी से जल्दी अपना मुँह काला कर जाओ, यही चाहता था मैं। पर अब लगता है, मैंने भूल की थी।

तुम्हारा स्वास्थ्य अब कैसा है? मुझे तुम्हारी चिन्ता हो रही है। छोटी बहू की प्रसूति के समय तुम आई थीं तो यहाँ तुम्हारा शरीर काफी छीज गया था। अब कैसी हो? कोई टॉनिक-वॉनिक लेती हो या नहीं?

हाँ, तो मैं कह रहा था, तुम्हें मेरे रूखेपन जरूर आश्चर्य हुआ होगा। निशी, अब उसे भूल ही जाओ। तुम्हें खुश हो जाना

चाहिए, मैं तुम्हारे नाम से एक बस्ती बसा रहा हूँ। उसमें गरीबों के लिए क्वार्टर्स होंगे। बेसहारा लोगों को मैं वहाँ बसाऊँगा। तुम्हारे पति यह सुनकर खुश होंगे। शायद वह शिकायत करें कि जब इसे स्वीकार करना ही था तो इतनी देर से क्यों ?

चलो, मैं अपनी भूल माने लेता हूँ, परन्तु कहावत है न, 'इट इज़ नेवर टू लेट।'

तुम तो अब बहुत दूर रहने लगी हो। तुम्हारे पति जब 'नवप्रभात' दैनिक में थे तो तुम घर आती-जाती रहती थीं, लेकिन अब तो उनकी नौकरी बहुत दूर—मद्रास में लगी है। उन्होंने बहुत तरक्की कर ली इतने समय में। मुझे बड़ी खुशी है कि वह राष्ट्रभाषा प्रचार समिति में आ गए हैं।

तुम दोनों छुट्टी लेकर यहाँ आओ, यह मैं चाहता हूँ। मैं तुम्हें वह बस्ती दिखाऊँगा जो बननी, शुरू हो गई है। मैं सोच रहा था, पूरी बसा लूँ, फिर अचानक सूचना देकर तुम्हें चकित कर दूँ। पर रहा न गया। यह पत्र शुरू करने के बाद ही मुझे शान्ति मिली है।

अपने पति से कहना, उनके सारे तर्क मैंने मान लिए हैं। जमाना देखकर मैं बदल गया हूँ। मैं समझ गया हूँ—गरीबों पर किया गया खर्च भारत पर किया गया खर्च है। पिछले दिनों मैं घन्टों-घन्टों अकेले में बैठकर सोचता रहा हूँ। तब मुझे लगा कि मैं काफी खोखला हूँ। पहले तो मैं निराश हो गया, फिर लगा, यह खोखलापन भर सकता है।

देखो, मैं शशि और निक्की की शादी बड़ी सादगी से करूँगा। पप्पू की शादी को तो अभी देर है पर उसकी भी इसी

तरह होगी।

पैसे वाले अपने नाम पर मन्दिर चुनवाते हैं। वे बेवकूफ हैं। उस धन से गरीबों के लिए मकान बनने चाहिए, उनके लिए कपड़े बँटने चाहिए। ईश्वर की भक्ति मन्दिर के बिना भी की जा सकती है। तुम ईश्वर में विश्वास नहीं रखती हो शायद। खैर, छोड़ो।

इस पत्र से तुम्हें एक दुखद बात भी कहनी है। वह यह कि अनिमेष की अक्ल मारी गई है। उसकी पत्नी ने उस पर जादू कर दिया है। मैंने उसे लाख समझाया पर वह तो अब ढीठ हो गया है। मुझे तक जवाब दे देता है। जिद लेकर बैठा है कि घर से अलग होऊँगा। क्या तुम्हें उसकी समझ पर तरस नहीं आता ?

यह जिद उसकी नहीं, उसकी पत्नी की है। सब समझता हूँ मैं। तू ही बता, यदि ऐसा होगा तो समाज में मेरा क्या मान रहेगा ? कुटुम्ब की सारी इज्जत मिट्टी में न मिल जाएगी ?

और वसुधा बहू ?

संसार में यदि किसी से मुझे सबसे ज्यादा नफरत है, तो उससे। वही इस घर में कलह का मूल है। वही है अनिमेष को भरमाने वाली। अनिमेष से मैंने कई बार कहा, वह तलाक ले ले, मैं उसके लिए अच्छी से अच्छी बहू ला सकता हूँ। तलाक के लिए कोई भी कारण बनाकर कोर्ट में दिया जा सकता है। किसी भी लड़की को चुन ले वह, शादी कराने का जिम्मा मेरा। पर उसकी अक्ल, मैंने कहा न, सठिया गई है।

उसमें एक बड़ा ऐब और है। पत्नी का अपमान वह नहीं

देख सकता। उसे वह खरे सोने की समझता है। वह बेवकूफ नहीं समझता कि यदि किसी का अपमान होता है तो इसका कोई कारण भी तो होगा। वह उसकी एक-एक आज्ञा का पालन करता है। किसी को किसी युग में ऐसा आज्ञाकारी पति न मिला होगा। माना, उसकी पत्नी सुन्दर है, लेकिन मानोगी तुम, वसुधा बहू चोर है।

तुम चौंकोगी, पर है यह सत्य। मैंने उसे रंगे हाथों पकड़ा है। तुम्हें याद होगा, हमारे घर से गहने गायब हो जाते थे और खोज करने पर वापस मिल जाते थे। पिछले दस-बारह दिनों से वही बात फिर से शुरू हुई और इस बार चोर पकड़ा गया।

उस दिन मैं किसी काम के कारण रात को दो बजे घर लौटा। मैंने देखा,मेरे कमरे में से कोई छाया निकल रही है। मैंने उसे पहचाना,वह वसुधा थी। मैंने देखा, उसके हाथ में सौदामिनी का पर्स था। हाँ, सौदामिनी का पर्स !

मैंने कड़ककर उससे पूछा, "यह क्या है ?"

उसने कोई जवाब न दिया और तुरन्त नीचे बैठ गई। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे पर मैं जानता हूँ, यह सब ढोंग था।

मैंने आव देखा न ताव, उसका झोटा पकड़ लिया और घसीटकर भीतर ले गया। भीतर सौदामिनी सोई थी। मैंने उसे जगाया और सारी बात बताई। सुनते ही वह आश्चर्य में डूब गई। वसुधा ने जो पागलपन का ढोंग करके हम बुजुर्गों की खिल्ली उड़ाई थी, उसके लिए मैंने उसे कभी माफ नहीं किया। ऊपर से यह चोरी ? खूब शोर मचा घर में।

और उसी दिन से अनिमेष जिद लेकर बैठा है। यों उसका कहना ठीक है कि वह अपनी चोर पत्नी के साथ इस घर में नहीं रह सकता पर वह मेरा कहना क्यों नहीं मान लेता? वह बड़ी आसानी से तलाक ले सकता है।

अधिक क्या लिखूँ। बड़ी विकट परिस्थितियों में फँसा हूँ। तुम तो मुझे कोई मदद कर नहीं सकती। रहती ही इतनी दूर हो। पर तुम इतना तो कर सकती हो कि अनिमेष को पत्र लिख कर उसे समझाओ, वह अपनी जिद छोड़ दे। आशा तो मुझे नहीं है कि वह मान जाएगा, लेकिन कोशिश करने में क्या नुकसान है। मुझे कम से कम तसल्ली तो हो जाएगी।

सौदामिनी कहती है कि तुम भी वसुधा से मिली हुई हो पर मैं इसे नहीं मान सकता। तुमने जो अनशन किया था, वह अपने लिए किया था; वसुधा बहू ने उसमें साथ दिया यह अलग बात है। तुम चोरी के मामलों में भी उससे मिली हो इसका विश्वास कैसे किया जा सकता है। मैं तुम्हें पहचानता हूँ।

हाँ, तो मेरी अच्छी निशी, तुम कब आ रही हो घर? अनिमेष अलग हो इससे पहले ही आ जाओ। तुम उसे समझा सकती हो।

लेकिन शायद मैं व्यर्थ ही आशा लगाए बैठा हूँ। तुम इतनी जल्दी आ ही नहीं सकतीं। तुम बस, इतना कर दो, अनिमेष को पत्र लिख दो।

उत्तर की राह में।

तुम्हारा भैया,
ईश्वरचन्द्र

अनिमेष
ने
लिखा :

२० जुलाई, १९६०

निशा दीदी,

अपने लिए दीदी शब्द पढ़कर तुम्हें आश्चर्य होगा। साथ ही तुम खुश भी होगी यह निश्चित है। तुम उमर में भले मुझसे छोटी हो, अनुभव में तो बड़ी हो।

दुकान के नाम आया तुम्हारा पत्र मिला। घर के पते पर तुमने मुझे पत्र न लिखा, यह बहुत अच्छा किया। वहाँ वह पत्र पहले भैया के हाथ पड़ता, फिर मुझे मिलता।

तुमने मुझसे बहुत सी बातें पूछी हैं। सभी का जवाब देना तो सम्भव नहीं पर मुख्य प्रश्नों के जवाब दे रहा हूँ।

तुमने पूछा है, क्या वसुधा की नींद में चलने और चीजें चुराने की आदत फिर से उभर आई है?

हाँ, फिर से वह नींद में चलने लगी है। पैर में रस्सी बाँधने के कारण एक बार उसका पैर बहुत मोच खा गया था। तब से मैंने उसके पैर बाँधना छोड़ दिया है।

मैंने उसे कई बार समझाया कि नींद में चलने की यह बात घर में बता दी जाए पर वह नहीं मानती। वह यही कहती है कि

उसका मजाक उड़ाया जाएगा। उसका दूसरा तर्क यह है कि उस पर विश्वास ही न किया जाएगा।

मैं रात को सो नहीं पाता हूँ। पता नहीं, कब वह उठकर चलने लग जाए। लेकिन आखिर हर समय जागकर तो नहीं रहा जा सकता न।

तुमने पूछा है, क्या मैं अलग होने का विचार नहीं बदल सकता ?

नहीं, कभी नहीं। अब मैं इस घर में नहीं रह सकता। वसुधा के साथ मुझे पूरी सहानुभूति है। मैं उसका साथ नहीं छोड़ सकता।

सच कहता हूँ निशी, वह बहुत स्नेहशील है। उससे तलाक लेने की बात करने वालों पर मुझे तरस आता है। काश, वह बिचित्र न होती !

तुम्हारा बहुत याद आती है। मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। जिधर जाता हूँ, व्यंग्य किए जाते हैं। नौकर भी पीठ पीछे मुसकराते हैं। आखिर कब तक सहन किया जा सकता है यह सब ?

तुम पूछती हो, अलग होकर मैं क्या काम करूँगा। इस प्रश्न में मुझे उपहास और शंका की बू आती है। क्या तुम सोचती हो, मैं जीवन में सफलता पा ही नहीं सकता ? मैं कुछ भी कर लूँगा। जो करूँगा, छुपा हुआ तो रहेगा नहीं।

तुम कब आओगी, इसी का इन्तजार है। पर शायद तुम आओगी तब तक मैं घर से चला गया होऊँगा।···तुम मेरे नए घर आओगी न ?

या फिर तुम भी मुझसे नाराज हो ?
पत्र दुकान के पते पर ही लिखना।
स्वास्थ्य की मंगल कामनाओं सहित।

तुम्हारा ही भैया,
अनिमेष

वसुधा
ने
लिखा :

२० जुलाई, १९६०

मेरी प्यारी निशी,

पत्र मैं लिखने ही वाली थी कि तुम्हारा पत्र आ गया। तुमने विस्तार से सारी बातें पूछी हैं। एक वाक्य में कहूँ तो इस घर में सबको मुझसे शिकायत है और मुझे सबसे शिकायत है। मैं किसी से खुश नहीं, कोई मुझसे खुश नहीं।

मेरा नींद में चलना आखिर खुलकर रहा। अच्छा होता, तुम्हारी बात मानकर पहले ही इसे सबको बता दिया जाता। जेठजी ने मुझे रँगे हाथों पकड़ा है। उन्हें विश्वास नहीं दिलाया जा सकता कि मैं चोर नहीं हूँ, केवल नींद में चलती हूँ।

और अब तो मैं भी चाहती हूँ, हम दोनों घर से अलग हो जाएँ। यहाँ मुझे शान्ति नहीं मिल सकती। अनिमेष भी यहाँ सुखी नहीं हो सकता। इस घर ने मुझे तोड़ दिया है, बिखेर दिया है। यहां मैं अपने को समेट नहीं सकती।

यों जेठजी अब काफी बदल गए हैं, लेकिन क्रूरता और जिद अभी है। भाभियाँ तो लकीर पीट ही रही है। नहीं, अब इनके बीच मुझसे रहा न जाएगा। केवल बड़े जेठजी के बदलने से क्या

होता है। मॅझले और छोटे जेठजी तो अभी भी दकियानूसी हैं। बड़े जेठजी खुद बदल गए पर दूसरों को बदलने में वह असमर्थ हैं। सचमुच इनकी दुनिया पत्थर की है। इन्हें छोड़ दो और आगे बढ़ जाओ। यह अपने आप सुधर जाएगी या नष्ट हो जाएगी।

कोई क्या जाने, औरतें किस तरह मेरा दिल भेद देती है। कोई भी सामान इधर से उधर होता है, झट मुझी से पूछा जाता है। घर वड़ा है, कोई न कोई चीज हर समय गुम ही होती है। कोई दिन ऐसा नहीं जाता, जब मैं नहीं रोती। अनिमेष देखता है तो अलग दु:खी होता है। वह जमकर विरोध करता है, पर नक्कार-खाने में तूती की कौन सुनता है? केवल वही एक व्यक्ति इस घर में है जो मेरा दर्द समझता है। दूसरे तो केवल मजाक उड़ाने के लिए हैं। भाभियाँ अपने बच्चों को सिखाकर भेजती हैं और वे मेरे कमरे के पास आकर चिल्लाते हैं, 'चोर चोर चोर!'

कभी चिल्लाते हैं, "पागल पागल पागल!"

बच्चे शोर करते हैं, भाभियाँ तमाशा देखती हैं। और अब तो यह भी व्यंग्य किया जाने लगा है, 'पागल को अलग रहने की सूझी है, वाह-वाह!'

तुम मद्रास में हो। तुम्हें कल्पना भी नहीं आ सकती, हम दोनों किस तरह जी रहे हैं। मैं तो तेज स्वभाव की हूँ ही, अनिमेष भी वैसा हो गया है। बात-बात में चीख पड़ता है। मुझे हमेशा डर लगा रहता है, वह किसी का सिर न फोड़ डाले। जितनी जल्दी हो सके, हम दोनों यहाँ से निकल भागना चाहते हैं। हम कहीं भी बस जाएँगे, कोई भी काम कर लेंगे।

तुमने मेरी कविताओं के बारे में पूछा है। अब कहाँ कविताएँ ?

प्रेरणा का स्रोत ही सूख गया है। भावनाओं की तो कमी नहीं, रोज ही रोती हूँ, पर कविता करने को जी नहीं होता। कभी कुछ लिखने की कोशिश करती भी हूँ तो फाड़कर फेंक देती हूँ। महिला विकास संघ से भी संन्यास ले रखा है। अब मैं मन की कमजोर हूँ, बहुत कमजोर। सच कहती हूँ, मैं बिल्कुल बिखर गई हूँ।

निशा! कभी-कभी लगता है, मैं मर जाऊँगी। मैं निराशावादी हो गई हूँ। आशाओं के झूले में बहुत झूलती रही, अब लगता है, निराशा ही आखिरी सच्चाई है।

घर में मेरा मान नहीं है। मैं उसे चाहती भी नहीं। यह पत्र लिखकर उसे पोस्ट करने के लिए खुद मुझे लैटरबाक्स तक जाना होगा। इस घर का कोई बच्चा अब मेरा काम नहीं करता। उनकी अम्माओं ने उन्हें सिखा दिया है, यह औरत भूत है। वे मुझसे डरते हैं।

अधिक नहीं लिखूंगी। और हाँ, 'खुशखबरी' कब सुना रही हो ?

देखो, मुझे कितनी हौंस है! तुमने मुझसे शिकायत की थी, मैंने अपनी बच्ची के लिए स्वेटर न बुना था, मोजे न बुने थे; पर देखना, मैं तुम्हारे मुन्ने के लिए क्या-क्या बनाकर भेजती हूँ।

बच्ची का नाम मैंने अन्नपूर्णा रखा है। मैं वसुधा, मेरी बच्ची अन्नपूर्णा। ठीक है न ?

तो अब रुकूँ। फिर लिखूंगी। उतनी ही जल्दी लिखूंगी, जितनी जल्दी तुम लिखोगी।

'खुशखबरी' की राह में—

तेरी,

वसुधा

पुनश्च: मैंने अब यदि कोई कविता लिखी
भी तो उस पर अपने नाम की
जगह लिखूंगी—'टूटा व्यक्तित्व'।

सौदामिनी
ने
लिखा :

२८ जुलाई, १६६०

निशा,

चिरंजीव रहो।

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने वसुधा के बारे में पूछताछ की है।

देखो निशा, मैं तुमसे जरा भी नहीं डरती। मैं साफ-साफ लिखती हूँ, तुम मुझे वसुधा की ही चेली मालूम पड़ती हो। तुम्हें वसुधा खूब पत्र लिखती होगी। तुम्हें सब मालूम होगा, घर में क्या-क्या हो रहा है। फिर भी तुमने मुझसे सारी बातें पूछी हैं। इस तरह झाँसा न दे सकोगी।

तुम्हें विवाह में कुछ भी न दिया गया तो तुमने वसुधा से मिलकर गहने चुराने की योजना बनाई। मैं तुम्हारे नाम से ही चिढ़ती हूँ। चिरंजीव रहो का आशीर्वाद मैंने दिया अवश्य है, पर वह मेरे अपने मान की रक्षा के लिए है।

लेकिन तुमने जब पूछा है तो थोड़े में लिख देती हूँ।

वसुधा बेशर्म हो गई है। किसी की इज्जत नहीं करती। बीच राह में खड़ी होकर चाहे जिससे बात कर लेती है। वह

किसी नौकरानी की तरह ओछेपन पर उतर आई है। फिर उसी तरह उसे देखा जाए तो क्या आश्चर्य ? रसोई में वह कभी आ जाती है तो हमें मदद कर देती है और नहीं आती तो कोई पर-वाह नहीं करता। घर के बच्चे तक उसे पहचान गए हैं। कोई उसकी ओर थूकता भी नहीं। कोई उसका काम नहीं करता। अपना सारा काम वह खुद करती है। अभी वह अलग नहीं हुई पर जैसे वह अलग ही है।

अनिमेष के बारे में भी तुमने पूछा है। उसके जैसा सीधा इन्सान इस टेढ़ी दुनिया में नहीं जी सकता। मुझे पूरा विश्वास है, वह अलग हुआ नहीं कि भूखों मरेगा। उससे कोई धन्धा नहीं हो सकता।वह कहता है कि अभी वह बँटवारा करके अपना हिस्सा लेना नहीं चाहता। बस, एक इलेक्ट्रिकल स्टोर खोलने का पैसा उसे चाहिए। फिर वह कहीं चला जाएगा और अपना घर अलग बसाएगा। अनिमेष बेवकूफ है। वह वसुधा की चरखी में आ गया है। जरा खूबसूरत क्या हुई, गुलाम हो गया।

तुम्हारे बारे में मेरे विचार कभी बदलेंगे तो ठीक, वरना यह मेरा आखिरी पत्र है।

—सौदामिनी

पप्पू
ने
लिखा :

तालीख नहीं मालूम

निछा दीदी,

जब छे तुम गई हो, मेला जी नहीं लगता है। तुम कितनी अच्छी हो। अब हमें तुम्हाली तलः कोई कहानी नहीं छुनाता। बछुधा काकी की तो बात ही छोड़ो। माँ ने कहा है कि वह तुम्हाली काकी नहीं है। उससे बात मत कलो। मैं बा. कलता हूँ तो माँ मेले को मालती हैं। औल तुमको बताऊँ दीदी, मुझे तो बछुधा काकी पर बड़ी दया आती है। वह कभी-कभी मेले को बुला कल चाकलेट देती है पल माँ ने लेने छे मना किया है। मैंने एक बाल उनछे कह दिया कि माँ ने मना किया है। बछ दीदी, इतनी छी बात पल काकी बहुत रोई। मुझे तो कुछ भी समझ में न आया। मैं भाग गया। फिर चक्कू, कुट्टी, मुण्डू सबने काकी को घेल लिया औल चिल्लाने लगे, काकी पागल, काकी पागल। काकी चोल, काकी चोल। क्यों निछा दीदी, क्या छचमुछ काकी चोल है? पागल है? माँ कहती है कि मैं भी उछको चोल कहा कलूँ, पागल कहा कलूँ, पर वह पागल होती तो मेले को चाकलेट कैछे देती?

अब मैं पहली पाछ हो गया हूँ। हमाला मास्टल बहुत खलाब है। छाला बहुत मालता है।

निछा दीदी, तुम तो बहुत दूल रहती हो। हमें बुलाओ न अपने पाछ? वहाँ पल मास्टलजी होते हैं?

देखो, तुम अपनी चिट्ठी में मेले लिए चुम्मी लिखना, भूलना नहीं। तुम तो बहुत देल से चिट्ठी लिखा कलती हो।

चक्कू, कुड्डी, मुण्डू मुझे अच्छे नहीं लगते। वे छब काकी को चिढ़ाते हैं। तुम तो कहती थीं ना, काकी अच्छी है?

—पप्पू का नमछ्ते

निशा
की
डायरी :
कुछ
पन्ने

१५ जुलाई, १९६०

आज ईश्वर भैया का पत्र आया है और मैं आश्चर्य में पड़ गई हूँ।

अचानक यह परिवर्तन कैसा ? मुझे लगता है, शुरू से उनके मन में नए विचारों के लिए जगह थी पर अपनी जिद के कारण वह इसे स्वीकार न करते थे। उन्होंने लिखा है कि वह मेरे नाम पर गरीबों के लिए एक बस्ती बसा रहे हैं। आहा, कितनी खुशकिस्मत हूँ मैं। जब वह बस्ती बस जाएगी, हम दोनों वहीं जा कर रहेंगे।

ईश्वर भैया का यह पत्र मैंने अमूल्य निधि की तरह अपने पास रख छोड़ा है।

परन्तु अभी भी ईश्वर भैया वसुधा भाभी को नहीं समझ पाए। उन्होंने तो यहाँ तक लिखा है कि संसार में उन्हें सबसे ज्यादा घृणा वसुधा भाभी से है। हो सकता है, यह भी उनकी

जिद हो जो आज नहीं, कल मिट जाए।

२३ जुलाई, १९६०

आज अनिमेष और वसुधा के पत्र आए हैं। अनिमेष ने भावुकता में मुझे दीदी कहा है। चलो, एक और नया बोझ!

दोनों ने अपनी हालत का जो वर्णन किया है उसके अनुसार तो उन्हें अब अलग हो ही जाना चाहिए। यही आज मैंने दोनों को लिख भी दिया है। ईश्वर भैया मुझसे सख्त नाराज होंगे।

वसुधा भाभी ने भी क्या पूछा है! 'खुशखबरी' कब सुनाने वाली हूँ! धत्, कितनी शैतान हैं!

उनका पत्र करुणा से भरा है। कोई भी स्वाभिमानी व्यक्ति इस तरह कहीं नहीं रह सकता। उनकी जगह मैं होती तो कब की अलग हो चुकी होती।

मैंने उन्हें लिखा है, 'टूटा व्यक्तित्व' नाम से ही सही, पर कविताएँ लिखना बन्द न करें। अभी वह एक्सास्ट नहीं हुई होंगी।

१ अगस्त, १९६०

आज सौदामिनी भाभी का पत्र आया है। उन्होंने लिखा है, शायद यह उनका आखिरी पत्र है। लगता है, बहुत खफा हैं। घर जाऊँगी तो ऐसी चुटकियाँ लूँगी कि याद करेंगी। सारी हेकड़ी भूल जाएँगी।

आज ही पप्पू का भी पत्र आया है। वह तो उसे पढ़-पढ़कर इतना हँस रहे थे कि हद नहीं। मुझे भी बड़ी हँसी आ रही थी।

वहाँ पर मास्टलजी होते हैं या नहीं ! वाह पप्पू !

परन्तु हँसने के बाद हम दोनों बहुत उदास हो गए। पप्पू का पत्र वसुधा की कहानी कहता है। यह पत्र मैं आज ही अनिमेष को पोस्ट कर रही हूँ।

१ सितम्बर, १९६०

आज रायपुर से अनिमेष का पत्र आया है। वह घर से अलग हो गया है। रायपुर में उसने अपना इलेक्ट्रिकल स्टोर खोल लिया है। उसने लिखा है, दुकान अच्छी चल रही है। मैंने उनसे कहा, "जिस लड़के को सभी यह कहकर निराश किया करते थे कि यह जीवन में कुछ नहीं कर सकता, वही आज जीवन-क्षेत्र में सफलता के साथ जूझ रहा है। उसके पीछे जरूर वसुधा की शक्ति है। उस टूटे व्यक्तित्व की शक्ति !"

अनिमेष ने बड़े उत्साह से लिखा है कि हम उसकी दुकान देखने के लिए रायपुर आएँ। मद्रास से रायपुर ! वह उसके पत्र पर हँस रहे थे कि हमें तो अनिमेष ने राजनीतिक नेता समझ रखा है। मानो हमारे वहाँ पधारने से उसकी दुकान की शान बढ़ जाएगी।

उनके इस मजाक पर मैं हँस पड़ी थी। मन-ही-मन कहा था मैंने, 'तुम किसी राजनीतिक नेता से कम हो ? तुम्हारी प्रसिद्धि भारत के कोने-कोने में है। तुम किसी कवि सम्मेलन में जाते हो, भीड़ लग जाती है तुम्हें देखने के लिए ! तुम अभी चलो और देखो, उसकी दुकान की शान बढ़ती है या नहीं। सबकी जबान पर यही होगा कि कवि 'विद्रोही' अनिमेष के यहाँ ठहरे हुए हैं।

वह उसके बहनोई हैं।'

५ सितम्बर, १९६०

आज मैंने बहुत जिद की कि हमें रायपुर चलना ही चाहिए। उन्होंने कहा, "मैं छुट्टी लेने की कोशिश करूँगा।"

मैं आशाओं के झूले में झूल गई।

२० सितम्बर, १९६०

आज हम रायपुर के लिए रवाना हो गए हैं। यह मैं रेल के हिचकोलों और शोर के बीच लिख रही हूँ। रेल में बहुत भीड़ है। मैंने उनसे कहा कि हम सेकिण्ड क्लास में चलें पर वह बोले, "गांधीजी भी थर्ड क्लास में सफर करते थे।"

रोशनी बहुत कम है। लिखने को जी नहीं हो रहा। फिर आज कोई विशेष बात भी नहीं हुई, सिवा इसके कि हम रायपुर के लिए रवाना हो गए हैं।

२३, सितम्बर १९६०

हम रायपुर आ गए हैं। अनिमेष से मिलकर मुझे कितनी खुशी हुई है, मैं वर्णन नहीं कर सकती। मैंने उसकी दुकान देखी। मेन रोड पर है। छोटी सी, पर दुलहन की तरह सजी। काफी बिक्री होती है। अनिमेष को आशा है, कुछ ही समय में वह दुकान को दुगुनी बढ़ा लेगा।

वसुधा भाभी का चेहरा तो पहचाना ही नहीं जाता। इतने कम समय में वह कितनी स्वस्थ हो गई हैं। पहले मैं उनसे

शिकायत किया करती थी, "तुम बहुत दुबली हो।" अब वही शिकायत वह मुझसे कर रही हैं, "तुम बहुत दुबली हो।"

परन्तु यह तो कहने की बात है, असल में मैं भी अब दुबली नहीं रही। हम सब जैसे किसी कैद से छुटकारा पा गए हैं।

मैंने पूछा, "क्या अभी भी नींद में चला करती हो?"

वह कुछ उदास हो गई, "हाँ, कभी-कभी। मैं यहाँ खुश हूँ। यह बात मैंने पड़ोसियों को बता रखी है।"

फिर उन्होंने वही सवाल पूछा, "खुशखबरी?"

शैतान!

३० सितम्बर, १९६०

आज मैंने उनसे कहा, "नौकरी छोड़ दो। आखिर है तो गुलामी। काव्य-संग्रहों से अब काफी आय होने लगी है। कवि-सम्मेलनों से भी काफी मिल जाता है। एक छोटा सा प्रेस भी हम खोल सकते हैं।"

वह गम्भीर होकर बोले, "सोचूँगा।"

लेकिन इसमें सोचने की क्या बात है?

५ अक्तूबर, १९६०

आज उन्होंने अपना स्तीफा भेज दिया है। उसकी मंजूरी भी आ जाएगी—पूरी आशा है।

उन्होंने अपनी पत्रिका 'धारा' के प्रकाशन की घोषणा कर दी है। वह हिन्दी के नव-लेखन की प्रतीक होगी।

और हमने निश्चय कर लिया है, हम अनिमेष के साथ ही

रह जाएँगे। ईश्वर भैया ने उस बस्ती का नाम 'निशीनगर' रखा है। निशीनगर! अनिमेष अपनी दुकान वहीं ले जाएगा ताकि वहाँ की अँधेरी दुनिया में उसका इलेक्ट्रिकल स्टोर जग-मगाहट भर दे। वहीं से पत्रिका का प्रकाशन होगा। थोड़े समय में हमारा प्रेस भी खुल जाएगा। फिर 'धारा' के लिए नुकसान की गुंजाइश कम हो जाएगी।

मैंने ईश्वर भैया को लिख दिया है कि जिससे उन्हें संसार में सबसे ज्यादा चिढ़ है, हम दोनों उसी विचित्र भाभी के साथ रहने की सोच रहे हैं।

पप्पू को भी मैंने लिखा है कि वह यहाँ आए। हम उसे खूब घुमाएँगे, खूब सैर कराएँगे।

११ अक्तूबर, १९६०

आज स्तीफे की मंजूरी आ गई है।

ईश्वर भैया का पत्र आया है। तुम रह सकती हो, कोई बात नहीं। उन्होंने लिखा है कि उनके विचार बड़ी तेजी से बदल रहे हैं। जिन बातों के कभी वह कट्टर विरोधी थे उन्हीं को अब उन्होंने स्वीकार कर लिया है। साथ सौदामिनी भाभी का भी पत्र है। वह भी अनिमेष की दुकान देखने आ रही हैं। साथ में पूरा का पूरा घर है। पप्पू, निक्की, मुण्डू, शशि—सब।

२ जनवरी, १९६१

हम सबने रायपुर छोड़ दिया है। हम दोनों, वसु भाभी, अनिमेष, अन्नपूर्णा—सब निशीनगर आ गए हैं।

'धारा' के पहले अंक का जोरदार स्वागत हुआ है।

निशीनगर में काम करने के लिए कितना बड़ा मैदान पड़ा है। मैंने और वसू भाभी ने कमर कस ली है। यह टूटा व्यक्तित्व अब अपने को बड़ी तेजी से समेट रहा है। एक छोटा सा स्कूल भी हम लोगों ने खोल रखा है। गरीबों के बच्चों के साथ बैठकर अन्नपूर्णा भी 'दया' लिखना सीखती है।